RNI No. : UPHIN-2009/29369

डाक पंजीकरण : MISC-II/CPM/09/KPHO/2014-17
प्रधान डाकघर कानपुर–डाक प्रेषण दिनांक 29/30

वार्षिक सदस्यता शुल्क 100/–

द्रविड़ भारत

www.dbindia.org.in

सामाजिक परिवर्तन का मासिक पत्र

दिसम्बर–2015 | वर्ष – 07 | अंक : 11 | मूल्य : 5/–

सम्पादकीय

RNI No. : UPHIN-2009/29369

संपादक : उमेश्वरी देवी, मो.: 9005204074
संरक्षक मण्डल : मा. रामदीन अहिरवार (महोबा), मा. राम अवतार चौधरी (इं. जल संस्थान इलाहाबाद), मा. छविलाल वर्मा (चरखारी), मा. हरिनाथ राम (दिल्ली), रामप्रकाश भारती (रा.अ.अ.भा.स्व.स.म.)
राज्य ब्यूरो प्रमुख उत्तर प्रदेश : सुनीता धीमान, 414/12, शास्त्री नगर, कानपुर (उ.प्र.), मो. : 9450871741
सहायक ब्यूरो चीफ (उ.प्र.) : चन्द्रिका प्रसाद ओमर, 49ए/52–बी, ख्यौरा, आजाद नगर, कानपुर, मो.: 9305256450
क्षेत्रीय सम्पादकीय कार्यालय :
40/69, डी–5, श्यामलाल का हाता, परेड, कानपुर (उ.प्र.), मो. : 8756157631
ब्यूरो प्रमुख कानपुर मण्डल :
पुष्पेन्द्र गौतम हिन्दुस्तानी, मल्हौसी, औरेया, उ.प्र. मो.: 9456207206
फुरकान खान, मो. : 8081577681
राकेश समुन्द्रे, मो. : 9889727574
हरियाणा राज्य :
ड्र. रमेश रंगा, ग्राम–सराय, औरंगाबाद, पो.–बहादुरगढ़,जिला–झज्जर (हरियाणा),09416347052
कानूनी सलाहकार : एड. रामप्रकाश अहिरवार, एड. यू.के. यादव, मोती लाल वर्मा, एड. विजय बहादुर सिंह राजपूत, एड. रमाकान्त धुरिया, रामऔतार वर्मा, एड. सुशील कुमार, कानपुर
मध्य प्रदेश राज्य : पुष्पेन्द्र कुमार
कार्यालय : ग्रा. व पो.–रामटौरिया, जिला–छतरपुर
छत्तीसगढ़ राज्य :
दिलीप कुमार कोसले, मो. : 09424168170
दिल्ली प्रदेश : C/o अनिल कुमार कन्नौजिया C-260, हर्ष विहार, हरिनगर एक्सटेंशन पार्ट–III, बदरपुर, नई दिल्ली–44, मो. : 09540552317
राजस्थान राज्य : रघुनाथ बौद्ध, श्याम रघु फुट वियर, दुकान नं.–1, गणेश मार्केट, पुलिस चौकी के सामने, अलवर, जिला–अलवर–301001,
मो. : 09887512360, 0144–3201516
धिरंजीलाल बैरवा (व्यावस्थापक) मेहरा आदर्श विद्या मन्दिर, भीम नगर कालोनी, राज भट्टा, दिल्ली रोड, अलवर, जिला–अलवर, मो.–09829855349
बाबूलाल बौद्ध, अलवर, मो.–08058198233
संपादकीय/विज्ञापन प्रसार/पंजीकृत कार्यालय :
ग्रा व पो.–रिवई (सुनैचा), जिला–महोबा (उ.प्र.)
मो. : 9005204074, 8756157631
E-mail : dravinbharat1@gmail.com
प्रकाशक, मुद्रक एवं स्वामी
उमेश्वरी देवी द्वारा ग्रा. व पो.–रिवई (सुनैचा), जिला महोबा से प्रकाशित व ग्रेय ऑफसेट प्रा. लि., 109/406, नेहरू नगर, कानपुर, 84/1, बी, फजलगंज, कानपुर से मुद्रित

प्रकाशित पत्रिका में प्रकाशित लेख, सामग्री, में संपावक की सहमति अनिवार्य नहीं है। इसमें किसी भी प्रकार का दावा या विचार मान्य नहीं होगा। लेख के विवादित होने पर लेखक ही उत्तरदायी होगा समस्त विवादों का निपटारा महोबा न्यायालय में होगा पत्रिका का संपादन एवं संचालन पूर्णतयः अवैतनिक एवं अव्यवसायिक है।

मिशन को बढ़ाने के लिए सहयोग करें –
भारतीय स्टेट बैंक, शाखा–नवीन मार्केट, कानपुर
खाता सं.–33496621020 • IFSC CODE-SBIN0005307

हिंदुओं से अलगाव

अपनी समस्या के प्रति जागरूक अधिसंख्य अस्पृश्यों का विचार है कि उनके पास अस्पृश्यों की समस्या को हल करने का एक उपाय यह है कि वे हिंदू धर्म को तिलांजलि दे दें और किसी अन्य धर्म को ग्रहण कर ले। 31 मई 1936 को बंबई में महारों का जो सम्मेलन हुआ था, उसमें सर्व–सम्मति से इस आशय का संकल्प पारित किया गया था। हालांकि सम्मेलन केवल महारों का सम्मेलन था, फिर भी संकल्प को भारत–भर के अस्पृश्यों के एक अति विशाल समुदाय का समर्थन प्राप्त था। किसी भी संकल्प ने इतनी हलचल पैदा नहीं की थी। हिंदू जाति की जड़ें ही हिल गई थीं। इस आंदोलन के कर्णधार अस्पृश्यों को गालियां दी गईं, उन्हें कोसा गया और धमकियां दी गईं।

अस्पृश्यों के धर्म–परिवर्तन का विरोध करने वालों ने चार प्रमुख आपत्तियां की हैं :

(1) धर्म परिवर्तन से अस्पृश्यों को क्या लाभ हो सकता है? धर्म–परिवर्तन से अस्पृश्यों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

(2) सभी धर्म सच्चे हैं, सभी धर्म अच्छे हैं। धर्म–परिवर्तन निरर्थक है।

(3) अस्पृश्यों के धर्म–परिवर्तन पर राजनीति का रंग चढ़ा हुआ है।

(4) अस्पृश्यों के धर्म–परिवर्तन में खोट है, क्योंकि उसके मूल में आस्था नहीं है।

यह सिद्ध करने के लिए अधिक तर्क की जरूरत नहीं है कि आपत्तियां बचकाना और बेसिरपैर की हैं।

सबसे पहले अंतिम आपत्ति पर विचार करें। इतिहास में ऐसी घटनाओं की कमी नहीं है, जहां किसी धार्मिक ध्येय के बिना धर्मांतरण हुआ है। क्लोविस और उसकी प्रजा ने जब ईसाई धर्म ग्रहण किया तो उसका क्या स्वरूप था? ईथेलबर्ट और उसकी प्रजा ईसाई कैसे बनी? नए धर्म को अंगीकार करने के पीछे क्या उनका कोई धार्मिक ध्येय था? ईसाई धर्म–परिवर्तन का विचार प्रकट करते हुए श्रद्धेय रीशेल कहते हैं :

यूरोप की एक के बाद दूसरी जातियों ने ईसाई धर्म को अंगीकार किया है। देखा गया है कि उनका धर्म–परिवर्तन सदैव ऊपर से शुरू हुआ है, नीचे से कदापि नहीं। पहले क्लोविस ने रेमिगियस के आगे घुटने टेके और तुरंत उसके बाद तीन हजार फ्रेंकों की ईसाई धर्म में दीक्षा हुई। ईथेलबर्ट ने आगस्टीन के मिशन के आगे घुटने टेके और उसके तुरंत बाद समूचे कैंट ने उनके उदाहरण का अनुसरण किया। जब उनके पुत्र ईयडबाल्ड ने स्व–धर्म का परित्याग किया तो उनके साथ–साथ कैंट के लोगों ने भी स्व–धर्म का परित्याग कर दिया। राजा सिगेबर्ट ने धर्म–परिवर्तन से एसेक्स पर अंतिम विजय प्राप्त कर ली गई। यह राजा एक अन्य राजा ओस्वी के प्रभाव में आकर स्वयं ईसाई धर्म में दीक्षा लेता है। नार्थम्बरलैंड पर अस्थाई प्रभुत्व उसके राजा एडविन के धर्म–परिवर्तन से प्राप्त किया गया, लेकिन एडविन की मौत के साथ ही वह समाप्त हो गया। उसने पुनः ईसाई धर्म को स्वीकार किया, जब एक अन्य राजा ओस्वाल्ड ने उसके प्रसार को बढ़ावा दिया। जर्मनी के धर्म–परिवर्तन में बोनीफेस नामक बिशप ने देश के चार्ल्स मार्टेल और पेपिन नामक राजकुमारों के निकट सहयोग से प्रमुख भूमिका अदा की। पेपिन ने अपने संरक्षण के बदले में अनाधिकार हड़प–घड़प के हिंसात्मक कर्म के लिए चर्च की मान्यता प्राप्त की। डेनमार्क पर प्रभुत्व हेराल्ड क्रेग, हेराल्ड ब्लैस्टेंड और कैन्यूट नामक उसके राजाओं के धर्म–परिवर्तन से स्थापित किया गया। स्वीडन पर प्रभुत्व उसके दो ओलोफों के धर्म–परिवर्तन से और रूस पर उसके राजा व्लादीमिर के धर्म–परिवर्तन से जमाया गया। सर्वत्र ईसाई धर्म ने पहले–पहल उसके राजाओं और राजकुमारों को संबोधित किया। सर्वत्र बिशप और मठाधीश उसके एकमात्र प्रतिनिधि दीख पड़ते हैं?

इतना ही नहीं, एक बार जब राजा का धर्म–परिवर्तन कर लिया गया तो मध्ययुगीन मिशनरियों का मार्ग निष्कंटक हो गया और उन्होंने अंधाधुंध तरीके से उसके प्रजा–जनों को ईसाई धर्म में दीक्षित कर दिया। अपने राजा क्लेविस के उदाहरण का अनुसरण करने वाले तीन हजार योद्धाओं का तुरंत पवित्रीकरण कर दिया गया। राजकुमार के धर्म–परिवर्तन के बाद ईथेलबर्ट के प्रजा–जनों को भारी संख्या में ईसाई धर्म में दीक्षित कर दिया गया। तब न कोई तैयारी थी और न ही कोई अनुदेश। केवल जर्मनों ने दूसरों का अनुसरण करने में अधिक जल्दबाजी नहीं की। रूस में व्लादीमिर के ईसाई धर्म में दीक्षित होने के बाद ईसाई बनने के लिए इतनी भीड़ जमा हो गई कि एक बार में सैकड़ों लोगों को संस्कार की शपथ दिखाई गई।

इतिहास गवाह है कि मजबूरी या धोखाधड़ी के कारण धर्म–परिवर्तन हुए हैं।

आज धर्म पैतृक संपत्ति का अंश हो गया है। विरासत की भांति ही वह पिता से पुत्र को मिलता जाता है। ऐसे धर्म के परिवर्तन में क्या अनौचित्य हैं? अस्पृश्य यदि धर्म–परिवर्तन करेंगे ही, तो धर्म–मूल्य और विभिन्न धर्मों के सद्गुण पक्ष पर पूर्णतया विचार करके करेंगे। कैसे कहा जा सकता है कि ऐसा धर्म–परिवर्तन समुचित धर्म–परिवर्तन नहीं है? इसके विपरीत वह तो समुचित धर्म–परिवर्तन के इतिहास की प्रथम घटना होगी। अतः यह समझ में नहीं आता कि अस्पृश्यों के धर्म–परिवर्तन पर किसी प्रकार की शंका क्यों की जाए।

तीसरी आपत्ति बेतुकी है। किसी ने भी यह स्पष्ट नहीं किया है कि धर्म–परिवर्तन के कारण अस्पृश्यों को कौन–सा राजनीतिक लाभ मिलेगा। यदि कोई राजनीतिक लाभ है भी तो किसी ने भी यह सिद्ध नहीं किया है कि धर्म–परिवर्तन के लिए यह सीधा लालच है।

लगता है कि धर्म–परिवर्तन का विरोध करने वालों को इतनी भी जानकारी नहीं है कि दो प्रकार के लाभों में भेद करना होगा। एक लाभ तो वह है जो धर्म–परिवर्तन के लिए सीधे लालच से होता है और दूसरा लाभ वह है जो केवल संयोग से होता है। यह नहीं कहा जा सकता है कि इन दो भेदों में अंतर नहीं है। हो सकता है कि धर्म–परिवर्तन के कारण अस्पृश्यों को कोई राजनीतिक लाभ मिल जाए। जहां लाभ सीधे लालच से हो, केवल उसी दशा में धर्म–परिवर्तन को अनैतिक अथवा आपराधिक ठहराया जा सकता है। अतः जब तक धर्म–परिवर्तन के विरोधी यह सिद्ध न कर दें कि अस्पृश्यों द्वारा अपेक्षित धर्म–परिवर्तन केवल राजनीतिक लाभ के लिए है, तब तक उनका आरोप निराधार है। यदि राजनीतिक लाभ केवल संयोगी लाभ है, तो धर्म–परिवर्तन में कुछ अनैतिकता नहीं है। फिर भी असलियत यह है कि धर्म–परिवर्तन से अस्पृश्यों को कोई नया राजनीतिक लाभ नहीं मिल सकता। भारत की संविधान–व्यवस्था के अनुसार हर धार्मिक संप्रदाय को पृथक राजनीतिक संरक्षण का अधिकार प्राप्त है। वर्तमान परिस्थिति में अस्पृश्यों को

मुस्लिमों और ईसाइयों जैसे ही राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं। यदि वे अपना धर्म–परिवर्तन करते हैं तो उससे उनके लिए किन्हीं नए राजनीतिक अधिकारों का सृजन नहीं हो जाएगा। यदि वे धर्म–परिवर्तन नहीं करते, तो उनके वर्तमान राजनीतिक अधिकार ही बने रहेंगे। धर्म–परिवर्तन का राजनीतिक लाभ से कोई वास्ता नहीं है। यह आरोप मिथ्या है, जो बिना सोचे–समझे लगाया गया है।

दूसरी आपत्ति इस तर्क पर आधारित है कि सभी धर्म एक ही बात कहते हैं। इस तर्क से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि चूंकि सभी धर्म एक ही बात कहते हैं, अतः कोई कारण नहीं कि एक को दूसरे से अच्छा माना जाए। यह माना जा सकता है कि सभी धर्मों की एक स्वर से मान्यता है कि अच्छा करने में ही जीवन की सार्थकता है। उस हद तक तो इस तर्क की वैधता को स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन जब यह तर्क उस हद को पार करता है और आग्रह करता है कि इसके कारण इसमें कोई तुक नहीं कि एक धर्म को दूसरे से बेहतर समझा जाए, तो वह एक मिथ्या हो जाता है।

इस दृष्टि से तो सभी धर्म समान हैं कि वे सभी शिक्षा देते हैं कि 'अच्छा' करने में ही जीवन की सार्थकता है। लेकिन 'अच्छा' क्या है? इस प्रश्न का उत्तर सभी धर्म एक जैसा नहीं देते। निश्चय ही इस बारे में उनका मतभेद है। एक धर्म भाईचारे को अच्छा मानता है, तो दूसरा जातिप्रथा और अस्पृश्यता को।

एक और पक्ष भी है, जिसके बारे में सभी धर्म एक जैसे नहीं हैं। जहां धर्म 'अच्छे' की व्याख्या करने वाला सर्वोच्च प्रमाण है, वहां वह 'अच्छे' का प्रचार और प्रसार करने वाली प्रेरक शक्ति भी हैं। सभी धर्म अच्छे के प्रचार और प्रसार के लिए जिन साधनों तथा उपायों की दुहाई देते हैं, उनके बारे में क्या वे एकमत हैं? जैसा कि प्रो. टीले ने कहा है :

मानव–जाति के इतिहास में धर्म एक सर्वाधिक शक्तिशाली प्रेरक शक्ति रही है। उसने राष्ट्रों को संजोया है और उजाड़ा है। उसने साम्राज्यों को जोड़ा भी है और तोड़ा भी है। जहां उसने अति क्रूर तथा बर्बर कर्मों को तथा अति जघन्य रीति–रिवाजों को मान्यता दी, वहां उसने शौर्य, आत्म–बलिदान और निष्ठा जैसे अति श्लाघनीय कृत्यों की प्रेरणा भी दी। जहां उसने अति रक्तरंजित युद्ध, विद्रोह और अत्याचार कराए, वहां उसने राष्ट्रों के लिए स्वाधीनता, सुख और शांति के द्वार भी खोले। कभी उसने अत्याचार का साथ दिया, तो कभी उसने उसके बंधनों को काटा। कभी वह प्रगति, विज्ञान और कला का कट्टर शत्रु रहा, तो आज वह एक नई तथा प्रतिभाशाली सभ्यता का सृजन एवं लालन–पालन कर रहा है।

इन अस्थिरताओं के अलावा उनकी अपनी–अपनी दृष्टि के अनुसार अच्छे के संवर्धन के उनके उपायों में स्थाई भेद हैं। क्या हिंसा की वकालत करने वाले धर्म नहीं हैं? क्या अहिंसा की वकालत करने वाले धर्म नहीं हैं? इन तथ्यों को देखते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि सभी धर्म समान हैं और उन्हें एक–दूसरे से बेहतर समझने में कोई तुक नहीं है।

दूसरी आपत्ति उठाकर हिंदू केवल यह प्रयास कर रहा है कि गुण–दोष के आधार पर हिंदू धर्म की निरख–परख न हो सके। यह कैसी असाधारण बात है कि धर्म–परिवर्तन संबंधी विवाद में अस्पृश्यों को चुनौती देते समय एक भी हिंदू, हिंदू धर्म के दोषों को दर्शाने का साहस नहीं कर सका है। हिंदू नाममात्र के लिए उस दृष्टिकोण की ओट ले रहा है, जिसे तुलनात्मक धर्म– विज्ञान ने जन्म दिया है। तुलनात्मक धर्म–विज्ञान ने सभी अपौरूषेयता (श्रुति, इल्हाम वाले) धर्मों के इन बड़े–बड़े दावों को चकनाचूर कर दिया है कि केवल वे ही सच्चे हैं और अन्य सभी झूठे हैं, जो श्रुति आदि पर आधारित नहीं है। झूठे और सच्चे धर्म की परख करने के लिए अपौरूषेयता की कसौटी अति मनमानी और मन–गढंत है। यह एक ऐसी महान सेवा है, जो धर्म के हित में तुलनात्मक धर्म–विज्ञान ने की है। लेकिन उस विज्ञान के विपक्ष में यह कहना ही पड़ेगा कि उसने इस सामान्य धारणा को जन्म दिया है कि सभी धर्म अच्छे हैं और उनके बीच विभेद करने में कोई अर्थ एवं प्रयोजन नहीं है।

एकमात्र पहली आपत्ति ही गंभीरता से विचार करने योग्य है। आपत्ति इस धारणा को लेकर चलती है कि धर्म नर और नारायण के बीच का विशुद्ध व्यक्तिगत मामला है। यह अलौकिक है। इसका सामाजिक पक्ष से कोई वास्ता नहीं। निश्चय ही तर्क जानदार है। लेकिन उसकी जड़े एकदम खोखली हैं। जो भी हो, यह धर्म का एकांगी दृष्टिकोण है और वह भी धर्म के उन पक्षों पर आधारित है, जो नितांत ऐतिहासिक हैं, बुनियादी नहीं।

धर्म के कर्म तथा प्रयोजन को समझने के लिए जरूरी है कि धर्म को ईश्वर मीमांसा से अलग किया जाए। धर्म के प्रमुख अंग हैं–रीति–रिवाज, प्रथाएं, अनुष्ठान और कर्मकांड। ईश्वर मीमांसा गौण पक्ष है। उसका उद्देश्य तो केवल उन्हें राष्ट्रव्यापी बनान है। प्रो. राबर्टसन स्मिथ के अनुसार :

वास्तव में कहा जाए तो कर्मकांड और प्रचलित रिवाज की प्राचीन धर्मों के सार तत्व थे। आदिकाल में धर्म व्यावहारिक प्रयोग वाली आस्था–पद्धति पर आधारित नहीं था। वह निश्चित परंपरागत रिवाजों का समूह था और समाज का हर सदस्य साहस के साथ उसका पालन करता था। मानव, मानव नहीं रहेंगे, यदि वे कार्य के लिए औचित्य के बिना कतिपय कार्यों को करने के लिए राजी हो जाएं, पर प्राचीन धर्म में औचित्य को पहले सिद्धांत के रूप में अपना कर बाद में उसे व्यवहार में नहीं लाया गया, अपितु उसके विपरीत व्यवहार के बाद सिद्धांत पक्ष आया।

उतनी ही जरूरी यह बात है कि धर्म को अलौकिक न माना जाए। तथ्य यह है कि धर्म का प्रमुख पक्ष सामाजिक है। उसकी अनदेखी करना धर्म के साथ खिलवाड़ करना है। बर्बर समाज का जीवन और जीवन के सरंक्षण से गहरा सरोकार था। जीवित रहने की ये प्रक्रियाएं ही बर्बर समाज के धर्म का सार और स्त्रोत बनीं। जीवन और जीवन के सरंक्षण से बर्बर समाज का इतना गहरा सरोकार था कि उसने उन्हें अपने धर्म का आधार ही बना डाला। बर्बर समाज के धर्म में जीवन और उसे संरक्षित रखने की प्रक्रिया इतनी महत्वपूर्ण थी कि उन्हें प्रभावित करने वाली हर वस्तु उनके धर्म का अंग बन गई। बर्बर समाज का सरोकार न केवल जन्म, पूर्ण–पुरूषत्व की प्राप्ति, तरूणाई, विवाह, बीमारी, मौत और युद्ध से था, अपितु आहार से भी था।

पशुपालकों के लिए पशुधन पवित्र हैं। खेतीबाड़ी करने वाले बुवाई और कटाई के समय ऐसे उत्सव मनाते हैं, जिनका कुछ–न–कुछ सरोकार फसलों की बढ़वार और रक्षा से होता है। इसी प्रकार सूखे, महामारी और उन जैसी प्रकृति की अन्य विचित्र अनियमित घटनाओं पर भी अनुष्ठान किए जाते हैं। जैसा कि प्रो. क्रौले ने कहा है, बर्बर समाज के धर्म का आदि और अंत जीवन के पोषण और पवित्रीकरण से होता है।

अतः बर्बर समाज का धर्म जीवन और जीवन के संरक्षण में निहित होता है। जो बात बर्बर समाज के धर्म के बारे में सच है, वही सर्वत्र सब धर्मों के बारे में सच है, क्योंकि वही धर्म का सार है। यह सच है कि परिष्कृत ब्रह्म–विज्ञान की चकाचौंध वाले आधुनिक समाज में धर्म का यह सार दृष्टि से ओझल हो गया है और विस्मृति के गर्त में भी चला गया है। लेकिन यह निर्विवाद तथ्य है कि आधुनिक समाज में भी जीवन और जीवन का संरक्षण धर्म का सार है। इसका समुचित दिग्दर्शन प्रो. क्रौले ने किया है। आधुनिक समाज में मानव के धार्मिक जीवन की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है :

मानव के धर्म का संबंध उसके व्यावसायिक अथवा सामाजिक जीवन, उसके वैज्ञानिक अथवा कलात्मक कर्म के क्षणों से नहीं रहता। वस्तुतः उसके खास तकाजों को सप्ताह में एक दिन पूरा किया जाता है। उस दिन सामान्य सांसारिक सरोकारों से हाथ खींच लिया जाता है। वस्तुतः उसका जीवन दो भागों में विभक्त है, लेकिन जो अधांश धर्म से जुड़ा है, वह तात्विक है। मोटे तौर पर कहा जाए तो जीवन और मृत्यु के मूलभूत प्रश्नों पर गंभीर चिंतन उसके विश्राम दिवस की सार वस्तु है। इसमें जोड़ दीजिए दैनिक प्रार्थना को, भोजन के समय प्रभु के प्रति धन्यवाद को और इस अवचेतन धारणा को कि जन्म और मृत्यु का, वंशवृद्धि और विवाह का विधिवत् संपादन धर्म ही करता है और संभव है कि व्यवसाय और खुशी के अवसर पर भी अनुष्ठान हो, लेकिन केवल लाक्षणिक रूप से या धार्मिक भावना के उद्रेक के वशीभूत होकर।

धर्म की उत्पत्ति और इसके इतिहास के छात्रों ने जब बर्बर समाज का अपना अध्ययन शुरू किया तो वे बर्बर समाज से जुड़े जादू–टोनों, वर्जनाओं और पूजा–प्रतीकों, रीति–रिवाजों और कर्मकांडों में इतना खो गए कि उन्होंने न केवल धर्म के मूल तत्व के रूप में बर्बर समाज की सामाजिक प्रक्रियाओं की ही अनदेखी की, बलिक वे जादू–टोने और अन्य अलौकिक प्रक्रियाओं की समुचित कार्य–प्रणाली को भी समझ न पाए। यह एक भारी भूल थी और वह धर्म से सरोकार रखने वाले सभी लोगों के लिए बड़ी मंहगी भूल सिद्ध हुई, क्योंकि उसी के कारण धर्म के संबंध में वह भारी गलतफहमी पैदा हुई है, जो आज अधिकांश लोगों के दिलों में बैठी हुई है। इससे बड़ी भूल और हो ही नहीं सकती कि धर्म के बारे में कहा जाए कि वह जादू–टोने से उपजा है और उसका आदि और अंत भी जादू–टोना करना है। यह सच है कि बर्बर समाज जादू–टोना करता है, वर्जना में विश्वास रखता है और गण–चिन्ह की पूजा करता है। लेकिन यह सोच लेना गलत है कि ये ही धर्म है अथवा धर्म इनसे ही उपजा है। ऐसे दृष्टिकोण का अर्थ तो यह होगा कि जो गौण है, प्रासंगिक है, उसे धरती से उठाकर प्रमुखता के सिंहासन पर बिठा दिया जाए। बर्बर समाज के धर्म में प्रमुखता मानव–अस्तित्व के सिंहासन पर बिठा दिया जाए। बर्बर समाज के धर्म में प्रमुखता मानव–अस्तित्व के जीवन, मृत्यु, जन्म, विवाह आदि जैसे मूल तथ्यों की है। जादू–टोना, वर्जना और गण–चिन्ह साध्य नहीं है। वे तो केवल साधन हैं। साध्य तो है, जीवन और जीवन का संरक्षण। जादू–टोना, वर्जना आदि का सहारा बर्बर समाज अपने स्वार्थ के लिए नहीं करता, बल्कि उसका उद्देश्य होता है कि जीवन की रक्षा हो और ऐसा अनुष्ठान हो कि बुरा प्रभाव जीवन को हानि न पहुंचा सके। फसल की कटाई जादू–टोना, वर्जना और गण–चिन्ह बर्बर समाज की दृष्टि में इतने महत्वपूर्ण क्यों हैं? उसका एक ही जवाब है कि उन सबका सरोकार जीवन की रक्षा से है। मुख्य प्रयोजन है, जीवन और जीवन की रक्षा। बर्बर समाज के धर्म का मूलाधार और मर्म है, जीवन और जीवन की रक्षा। आज जादू–टोने का स्थान ईश्वर ने ले लिया है, इससे यह तथ्य नहीं बदल जाता कि धर्म में ईश्वर का स्थान केवल जीवन–रक्षण के साधन के रूप में है और धर्म का साध्य है, सामाजिक जीवन का परिरक्षण और पवित्रीकरण।

एक बात की ओर विशेष ध्यान दिलाना जरूरी है। पूर्वोक्त चर्चा भी उसका पूर्ण समर्थन करती है। वह यह है कि धर्म को व्यक्तिगत, निजी और जाति का मामला समझना भूल है। वस्तुतः जैसा कि आगे पता चलेगा, धर्म जब व्यक्तिगत, निजी और जाति का मामला बना रहता है तो वह यदि खतरे का नहीं, तो प्रत्यक्ष शरारत का सबब तो बन ही जाता है। उतनी ही गलत दृष्टि यह है कि धर्म व्यक्ति के स्वभाव में निहित विशेष जन्मजात धार्मिक भावना को पल्लवित करता है। सही दृष्टि यह है कि भाषा की भांति धर्म भी समाज के लिए है और उसका कारण यह है कि दोनों सामाजिक जीवन के लिए अति आवश्यक हैं और व्यक्ति को उन्हें अपनाना पड़ता है, क्योंकि उसके बिना यह सामाजिक जीवन में भाग नहीं ले सकता।

यदि धर्म इस अर्थ में समाज के लिए है कि उसका खास सरोकार समाज से है, तो यह प्रश्न स्वाभाविक है कि धर्म का प्रयोजन और कर्म क्या है?

मेरी जानकारी में धर्म के प्रयोजन के बारे में श्रेष्ठ कथन प्रोत्र चार्ल्स एल्लवुड का है। वह कहते हैं :

धर्म समूचे संसार में मानव–व्यक्तित्व और मानव–समाज के मूल मूल्यों का समूचे संसार में प्रक्षेपण करता है। अनिवार्यतः उसका जन्म ज्यों ही हो जाता है, त्यों ही वह अपने संसार का मूल्यांकन करने का प्रयास करने लगता है, भले ही उसे वह संसार कितना ही छोटा और घटिया क्यों न लगे। मानवीय, सामाजिक और मानसिक जीवन की समूची विशिष्टताओं की भांति निश्चय ही उसका आधार भी मानव की उच्च बौद्धिक शक्तियां हैं। मानव ही एकमात्र धार्मिक पशु है, क्योंकि गूढ़ चिंतन एवं मनन की अपनी शक्तियों के कारण केवल वही पूर्णतः आत्म–चेतन है। अतः केवल वही संसार में अपने मूल्यों का प्रक्षेपण कर सकता है और वही प्रक्षेपण की जरूरत को अनुभव करता है। दूसरे शब्दों में, मानव को प्रदत्त बौद्धिक शक्तियों के सहारे उसकी बुद्धि तुरंत अपने मूल्यों तथा विचारों को सर्वव्यापी बनाने का प्रयास करती है। जिस प्रकार बुद्धिसंगतता की प्रक्रियाएं मानव को सर्वव्यापी विचारों का जगत प्रदान करती है, ठीक उसी प्रकार धार्मिक प्रक्रियाएं मानव को सर्वव्यापी मूल्यों का जगत प्रदान करती हैं। वास्तव में धार्मिक प्रक्रियाएं भी बुद्धिसंगतता की वे प्रक्रियाएं ही हैं, जो मानव के आवेगों और भावों को प्रभावित करती हैं, न कि उसकी नसीहतों को। जो काम तर्क विचारों के लिए करता है, वही काम धर्म भावनाओं के लिए करता है। वह उन्हे सर्वव्यापी बनाता है और ऐसा करते समय वह उनका सुर समूचे यथार्थ के सुर से मिला देता है।

धर्म सामाजिक मूल्यों पर बल देता है, उन्हें सर्वव्यापी बनाता है और उन्हें व्यक्ति के मन में बिठाता है। व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कामों में उनका ध्यान रखे, ताकि वह समाज के अनुमोदित सदस्य के रूप में कार्य कर सके। लेकिन धर्म का प्रयोजन इससे भी बढ़कर है। वह उन्हें अध्यात्म का जामा पहनाता है। जैसा कि प्रो. एल्लवुड ने कहा है :

अब धर्म से जुड़े इन मानसिक और सामाजिक मूल्यों को लोग 'आध्यात्मिक' कहते हैं यह रेखांकित करने वाली

बात है। जैसे कि हम कह सकते हैं, आध्यात्मिक मूल्य वे मूल्य हैं, जो खास तौर पर व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन से जुड़े हैं। जैसा कि हमने देखा है, वह इन मूल्यों का प्रक्षेपण सर्वव्यापी यथार्थता में करता है। वह मानव को संसार की सामाजिक तथा नैतिक संकल्पना प्रदान करता है। वह मानव को निरूद्देश्य, प्रयोजनहीन शक्तियों के खिलवाड़ के रंगमंच के रूप में कोरी यांत्रिक संकल्पना प्रदान नहीं करता। भले ही धर्म मूलतः जड़ात्मवादी दर्शन नहीं हैं, जैसा कि अक्सर कहा गया है, फिर भी वह सभी बातों में मन, आत्मा और जीवन का प्रक्षेपण करता है। अति आदिम धर्म ने भी ऐसा किया है। 'आदिम ऊर्जावाद' में मन अथवा आत्मा जैसी संकल्पनाओं में अलौकिक या इंद्रियातीत की भावना थी। उनका व्यक्तियों से गहरा सरोकार था और उनका उद्‌गम ही ऐसे व्यक्तित्व अथवा तत्वों से होता था, जिन्हें अनिवार्यतः व्यक्तिगत ढंग से निरखा-परखा जाता था। अतः धर्म आध्यात्मिक मूल्यों की यथार्थता के प्रति आस्था है और जैसा कि हमने कहा है, वह उनका प्रक्षेपण समूचे संसार में करता है। सभी धर्म, यहाँ तक कि तथाकथित अनीश्वरवादी धर्म भी, आध्यात्मिकता पर बल देते हैं, उसकी सत्ता में विश्वास करते हैं और उसकी अंतिम विजय की कामना करते हैं।

समाज में धर्म का कर्म भी उतना ही स्पष्ट है। प्रो. एल्लवुड के अनुसारः

धर्म सामाजिक नियंत्रण की एजेंसी के रूप में कार्य करता है, यानी समूह व्यक्ति के जीवन का नियंत्रण समूह के बृहत्तर जीवन की भलाई के लिए करता है, जैसा कि हमने देखा है, एकदम शुरू-शुरू में व्यक्तिगत भावनाओं अथवा मूल्यों को व्यक्त करने वाली जिन आस्थाओं और प्रथाओं को समूह मान्यता प्रदान नहीं करता था, उन पर 'काले जादू' अथवा हानिकर अंधविश्वास का ठप्पा लगा दिया जाता था। यदि ऐसा न किया जाता, तो जाहिर है कि समूह के जीवन की एकात्मता के लिए गंभीर खतरा पैदा हो सकता था। इस प्रकार धर्म का अनिवार्य सामाजिक स्वरूप उजागर हो जाता है। हम ऐसे धर्म को नहीं अपना सकते, जो नितांत व्यक्तिगत अथवा निजी हो और साथ-ही-साथ जो सामाजिक पक्ष वाला न हो, क्योंकि हम सामाजिक प्राणी हैं और बहरहाल समूह का हित खास महत्व का है।

इसी मसले पर अन्यत्र विचार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा है :

धर्म का कर्म भी वही है, जो कानून और सरकार का है। वह ऐसा साधन है, जिसके द्वारा समाज-व्यवस्था को बनाए रखने के लिए समाज व्यक्ति के आचरण पर अंकुश रखता है। हो सकता है कि व्यक्ति पर सामाजिक नियंत्रण के लिए जान-बूझकर उसका उपयोग न किया जाए। फिर भी तथ्य यह है कि धर्म सामाजिक नियंत्रण का साधन है। धर्म के मुकाबिले, सरकार और कानून सामाजिक नियंत्रण के अपेक्षतः भरपूर साधन नहीं हैं। कानून और व्यवस्था का नियंत्रण इतना गहरा प्रभाव नहीं डालता कि समाज-व्यवस्था को स्थिरता प्रदान की जा सके। दूसरी ओर, धार्मिक मान्यता अपनी अलौकिकता के कारण सामाजिक नियंत्रण का सर्वाधिकार कारगर साधन सिद्ध हुई है। कानून और सरकार न तो उतने कारगर सिद्ध हुए हैं और न ही हो सकते हैं। निश्चय ही धर्म के सहारे के बिना कानून और सरकार अति अधूरे साधन रह जाते हैं। धर्म सर्वाधिक सशक्त सामाजिक गुरूत्वाकर्षण है और उसके बिना समाज-व्यवस्था को उसके परिक्रमा-पथ पर रखना संभव नहीं होगा।

पूर्वोक्त चर्चा भले ही यह दर्शाने के लिए की गई है कि धर्म सामाजिक यथार्थ है, धर्म का विशिष्ट सामाजिक प्रयोजन है और है निश्चित सामाजिक कृत्य, फिर भी उसका उद्देश्य यह सिद्ध करता है कि यह उचित ही है कि यदि किसी व्यक्ति से किसी धर्म को स्वीकार करने की अपेक्षा की जाए, तो उसे यह प्रश्न करने का अधिकार होना चाहिए कि कहां तक धर्म ने धर्म से जुड़े प्रयोजनों को पूरा किया है। इसी कारण इस बात का औचित्य है कि लार्ड बेल्फोर ने पहले प्रत्यक्षवादियों से कुछ बड़े ही सीधे प्रश्न किए और उसके बाद ही वह स्वीकार कर सके कि प्रत्यक्षवाद ईसाई धर्म से श्रेष्ठतर है। उन्होंने अति कटु भाषा में प्रश्न किए :

उस अधिक त्रस्त, दीन-हीन जनसाधारण के लिए (प्रत्यक्षवाद) के पास क्या सांत्वना है, जो अपनी दैनिक जरूरतों और छोटी-छोटी चिंताओं के सतत् संघर्ष में डूबे ही नहीं, अपितु आकठ डूबे हैं, जिनके पास न तो समय है और न ही इच्छा है कि वे 'मानवीयता के महान नाटक के लिए आपेक्षित अपने सही रोल पर विचार कर सकें और जो हो सकता है कि हर हाल में उसके हित अथवा उसके महत्व को खोजने में परेशान हो जाए? क्या वह उन्हें आश्वासन दे सकता है कि कोई भी ऐसा निरर्थक मानव-प्राणी नहीं है, जिसका सनातन मूल्य स्वर्ग अथवा इन निरीह प्राणियों की सृष्टि करने वाले 'उसकी' दृष्टि में नहीं है और माटी के उसके पुतले के माटी में मिल जाने के बाद भी अनंत काल के लिए उसके कर्म की सार्थकता बनी रहेगी? क्या वह शोक से संतप्त प्राणियों को सांत्वना और अपने निर्बलों को बल प्रदान कर सकता है? क्या वह पापियों को क्षमा और थकान और भारी मार से ग्रस्त प्राणियों को विश्राम प्रदान कर सकता है?

लार्ड बेल्फोर ने प्रत्यक्षवादियों से जो प्रश्न किए थे, वे ही प्रश्न अस्पृश्य लोग हिंदू धर्म के पक्षधरों से कर सकते हैं। अस्पृश्य तो और भी अनेक प्रश्न कर सकते हैं। वे पूछ सकते हैं : क्या हिंदू धर्म उन्हें मानव-प्राणी के रूप में स्वीकार करता है? क्या वह उनके लिए समानता का समर्थन करता है? क्या वह उन्हें आजादी का लाभ देना चाहता है? कम से कम क्या वह उनके तथा हिंदुओं के बीच भाई-चारे की गांठ को मजबूत करने में मदद देता है? क्या वह हिंदुओं को सिखाता है कि अस्पृश्य उन्हीं के सजातीय हैं? क्या वह हिंदुओं से कहता है कि यह पाप है कि अस्पृश्यों से मानव तो क्या पशु से भी बदतर व्यवहार किया जाए? क्या वह हिंदुओं से कहता है कि वे अस्पृश्यों के साथ न्याय करें? क्या वह हिंदुओं का उपदेश देता है कि वे अस्पृश्यों के साथ न्यायोचित और मानवीय व्यवहार करें? क्या वह हिंदुओं के मानस में अस्पृश्यों के प्रति मैत्रीभाव रखने का संस्कार डालता है? क्या वह हिंदुओं को सिखाता है कि वे अस्पृश्यों से प्रेम करें, उनका आदर करें और उनका कोई अहित न करें? संक्षेप में, क्या हिंदू धर्म बिना किसी मेदभाव के जीवन के मूल्य को सर्वव्यापी बनाता है?

कोई भी हिंदू इनमें से किसी भी सवाल का जवाब 'हां' में देने का साहस नहीं कर सकता। इसके विपरीत हिंदुओं ने अस्पृश्यों के प्रति जो अन्याय किए हैं, वे ऐसे कर्म हैं जिन्हें हिंदू धर्म मान्यता प्रदान करता है। वे हिंदू धर्म के नाम पर किए जाते हैं और उन्हें हिंदू धर्म के नाम पर उचित ठहराया जाता है। अस्पृश्यों के प्रति हिंदुओं की अराजकता को जो भावना और परंपरा वैद्य बनाती है, उसे आधार और समर्थन हिंदू धर्म के उपदेश प्रदान करते हैं। किस प्रकार हिंदू अस्पृश्यों से कह सकते हैं कि वे हिंदू धर्म को स्वीकार करें और हिंदू धर्म में बने रहें? किस कारण अस्पृश्य हिंदू धर्म से चिपक रहें, जब कि वह उनकी अधोगति के लिए पूर्णतः उत्तरदायी है? किस प्रकार अस्पृश्य हिंदू धर्म में बने रह सकते हैं? अस्पृश्यता मानव की अधोगति का निम्नतम स्तर है। निर्धनता बुरी है, लेकिन उतनी बुरी नहीं, जितनी कि अस्पृश्यता। निर्धन गर्व कर सकता है। अस्पृश्य गर्व नहीं कर सकता। निम्न होना बुरा है, लेकिन उतना बुरा नहीं जितना कि अस्पृश्य होना। निम्न अपने स्तर से ऊंचा उठ सकता है। कष्ट भोगना बुरा है पर उतना बुरा नहीं है जितना अस्पृश्य के रूप में कष्ट भोगना। निम्न वर्ग को किसी-न-किसी दिन राहत मिलेगी, पर अस्पृश्य उसकी आशा नहीं कर सकता। दब्बूपन बुरा है, पर उतना बुरा नहीं जितना कि अस्पृश्य होना। दब्बू लोग यदि विरासत में भूमि प्राप्त नहीं कर सकते, वे कम-से-कम दबंग तो हो सकते हैं। अस्पृश्यता तो उसकी भी आशा नहीं कर सकते।

हिंदू धर्म में अस्पृश्यों के लिए आशा की कोई किरण नहीं है। लेकिन यही वह एकमात्र कारण नहीं है, जिसकी वजह से अस्पृश्य लोग हिंदू धर्म को छोड़ना चाहते हैं। एक और अनिवार्य कारण है, जो उन्हें हिन्दू धर्म छोड़ने पर मजबूर करता है। अस्पृश्यता हिंदू धर्म का एक अंग है। प्रबुद्ध सुधारक होने का ढोंग करने वाले जो हिंदू कहते हैं कि अस्पृश्यता हिंदू धर्म का अंग नहीं है, उन्हें भी अस्पृश्यता का पालन करना पड़ता है। हिंदू धर्म में विश्वास करने से हिंदू को कोई फर्क नहीं पड़ता। उसका यह बोध कि करोड़ों अस्पृश्य उससे नीचे हैं, श्रेष्ठता की उसकी भावना को हवा देता है। लेकिन जब कोई अस्पृश्य कहता है कि वह हिंदू धर्म में विश्वास करता है तो उसका क्या अर्थ होता है? उसका अर्थ होता है कि वह स्वीकार करता है कि वह अस्पृश्य है और इसलिए अस्पृश्य है कि वह दैवी विधान है। हो सकता है कि कोई अस्पृश्य किसी हिंदू का गला न काटे। लेकिन उससे यह स्वीकार करने की आशा नहीं की जा सकती कि वह अस्पृश्य है और वह उचित ही है। है कोई ऐसी मृत आत्मा वावाल अस्पृश्य जो ऐसी स्वीकृति दे और फिर भी हिंदू धर्म से चिपका रहे। हिंदू धर्म अस्पृश्यों के आत्म-सम्मान के प्रतिकूल हैं। यह एक सबसे सशक्त आधार है और वह इस बात को उचित ठहराता है कि अस्पृश्य किसी अन्य उदार और उदात्त धर्म को ग्रहण कर लें।

धर्म-परिवर्तन के विरोधियों ने तो इस बात की कसम खा ली है कि वे धर्म-परिवर्तन संबंधी अकाट्य तर्क से भी संतुष्ट नहीं होंगे। वे और प्रश्न करने का आग्रह करेंगे। एक और प्रश्न है, जिसे करने के लिए वे सदैव उत्सुक रहते हैं। उसका प्रमुख कारण यह है कि वे सोचते हैं कि वह बहुत टेढ़ा सवाल है और उसका जवाब नहीं दिया जा सकता। वह यह है कि धर्म-परिवर्तन से अस्पृश्यों को कौन-सा दुनियावी लाभ मिल जाएगा? यह प्रश्न तनिक भी टेढ़ा प्रश्न नहीं है। जवाब सीधा-सा है। अस्पृश्य नहीं चाहते कि धर्म-परिवर्तन को आर्थिक लाभ का अवसर बनाया जाए। यह सच है कि धर्म-परिवर्तन से अस्पृश्यों को कोई धन-संपत्ति नहीं मिल जाएगी। लेकिन यह कोई हानि नहीं है, क्योंकि हिंदू बने रहने पर भी वे निपट निर्धन ही बने रहेंगे। राजनीतिक दृष्टि से अस्पृश्य वे राजनीतिक अधिकार गंवा देंगे, जो उन्हें दिए जाते हैं। लेकिन वस्तुतः यह भी कोई हानि नहीं है। क्योंकि वे उन राजनीतिक अधिकारों को पाने के हकदार होंगे, जो उस समुदाय के लिए आरक्षित होंगे, जिसमें वे धर्म-परिवर्तन द्वारा शामिल होंगे। राजनीतिक दृष्टि से न लाभ है और न हानि। सामाजिक दृष्टि से अस्पृश्यों को पूर्ण तथा भारी लाभ होगा, क्योंकि धर्म-परिवर्तन द्वारा वे ऐसे समुदाय के सदस्य बन जाएंगे, जिसके धर्म ने जीवन के मूल्यों को सर्वव्यापी रूप और समानता प्रदान की है। हिंदू धर्म की परिधि में रहते हुए तो वे ऐसे वरदान की कल्पना तक नहीं कर सकते।

जवाब पूर्ण है। लेकिन संक्षिप्त होने के कारण हो सकता है कि धर्म-परिवर्तन के विरोधियों को वह संतुष्ट न कर सके। अस्पृश्यों को तीन चीजों की दरकार है। पहली दरकार यह है कि उनके सामाजिक अलगाव का खात्मा हो। दूसरी दरकार यह है कि उनकी हीन भावना का अंत हो। क्या धर्म-परिवर्तन उनकी जरूरतों को पूरा करेगा? धर्म-परिवर्तन के विरोधियों का विचार है कि धर्म-परिवर्तन के समर्थकों के केस में कोई जान नहीं है। इसी कारण वे प्रश्न-पर-प्रश्न उठाते रहते हैं। धर्म-परिवर्तन के केस में सर्वाधिक जानदार केस से भी ज्यादा जान है। केवल हमारी इच्छा बनी रहती है कि प्रत्यक्ष को प्रमाणित करने के लिए लंबे-चौड़े तर्क पेश किए जाएं। लेकिन चूंकि यह जरूरी है कि सभी प्रकार के संदेहों को दूर कर दिया जाए, अतः मैं मामले पर और विचार करने के लिए तैयार हूं। मैं हर मुद्दे पर अलग से विचार करना चाहूंगा।

किस प्रकार वे अपने सामाजिक अलगाव का खात्मा कर सकते हैं? अस्पृश्यों के लिए अपने सामाजिक अलगाव का अंत करने का एकमात्र उपाय यही है कि वे जात-पात की भावना से मुक्त किसी अन्य समुदाय से रक्त-संबंध जोड़कर उसमें घुलमिल जाएं। उत्तर सीधा-सा है। फिर भी अनेक लोग तत्काल उसकी वैधता को स्वीकार नहीं करेंगे। कारण यह है कि चंद लोग ही इस रक्त-संबंध की कीमत और खासियत को समझ पाते हैं। फिर भी उसका मूल्य और महत्व अति विशाल है। रक्त-संबंध और उसमें निहित अर्थ को प्रो. राबर्टसन ने इस प्रकार समझाया है :

रक्त-संबंध से ऐसे व्यक्तियों का समूह बना, जिनके जीवन आपस में ऐसे जुड़े हुए थे, जैसे कि शरीर के अंग आपस में जुड़े रहते हैं और उन्हें एक साझे जीवन का अंग समझा जा सकता है। एक कुटुंब के सदस्य स्वयं को एक जीवंत इकाई समझते थे। वे स्वयं को रक्त, मांस और मज्जा वाला एक जीवंत पिंड समझते थे और सभी सदस्यों को कष्ट पहुंचाए बिना किसी एक सदस्य को हाथ नहीं लगाया जा सकता था।

मसले पर दोनों के नजरिए से गौर किया जा सकता है, व्यक्ति के भी और समूह के भी। समूह के नजरिए से रक्त-संबंध इस भावना की अपेक्षा करता है कि हर संबंधी सर्वप्रथम और सर्वोपरि समूह का सदस्य है और वह मात्र व्यक्ति नहीं है। व्यक्ति के नजरिए से समूह से उसके रक्त-संबंध के लाभ उन लाभों से कम और भिन्न नहीं है, जो परिवार का सदस्य होने के नाते परिवार के किसी सदस्य को प्राप्त होते हैं। पारिवारिक जीवन मां-बाप के लाड़-प्यार से ओतप्रोत रहता है। प्रो. मैक्डोगल के शब्दों में :

(मां-बाप के लाड़-प्यार) की इस भावना और लालन-पालन के प्रेरणा से उदारता, कृतज्ञता, प्रेम, दया, सच्चे परोपकार और हर प्रकार के परहितकारी आचरण का जन्म होता है। उसी में उनकी प्रमुख तथा नितांत अनिवार्य जड़ समाई जाती है। उसके बिना वे नहीं पनपेंगे।

समुदाय समाज से इस अर्थ में भिन्न है कि वह केवल एक बड़ा परिवार है। अतः उसमें वे सभी सद्‌गुण पाए जाते हैं, जो परिवार में पाए जाते हैं। प्रो. मैक्डोगल ने ऊपर उसका सुंदर निरूपण किया है।

समुदाय के भीतर उन लोगों के बीच कोई भेदभाव नहीं किया जाता, जिन्हें रक्त-संबंधों से बंधे सगे-संबंधियों के रूप में माना जाता है। समुदाय मानता है कि उसका हर

सदस्य और सभी की भांति सभी अधिकारों का समान रूप से हकदार है।जैसा कि प्रो. डेवी और प्रो. टफ्ट्स ने कहा है :

राज्य किसी अन्य देश के नागरिक को अनुमति दे सकता है कि वह भूमि का स्वामी बन सके, उसकी अदालतों में दावा दायर कर सके और सामान्यतः वह उसे कुछ संरक्षण भी प्रदान करेगा, लेकिन निश्चय ही प्रमुख अधिकारों पर अंकुश लगेगा। अभी कुछ वर्ष पूर्व की मुख्य न्यायाधीश टैनी ने अमरीका के वर्तमान कानूनी सिद्धांत के बारे में कहा था कि नीगो के ऐसे कोई अधिकार नहीं हैं, जिन्हें स्वीकृति देने के लिए श्वेत मानव बाध्य हो। वहां भी जहां कानूनी सिद्धांत जाति संबंधी अथवा अन्य भेदवाभों को स्वीकार नहीं करता, प्रायः व्यवहार में किसी परदेसी के लिए न्याय प्राप्त करना कठिन ही होता है। आदिम कबीले या परिवार–समूहों मे यह सिद्धांत पूर्णतः लागू था। न्याय एक विशेषाधिकार है। वह व्यक्ति को इसलिए प्राप्त होता है कि वह किसी समूह का सदस्य होता है। अन्यथा वह उसे प्राप्त होता। कबीले या परिवार या ग्राम–समुदाय के सदस्य का अधिकार होता है, अजनबी का कोई हक नहीं होता। मेहमान के नाते उसके साथ विनम्र व्यवहार हो सकता है, लेकिन वह सिवाय अपने समूह के किसी अन्य से 'न्याय' की मांग नहीं कर सकता। समूह के भीतर अधिकारों की इस संकल्पना में हमारे आधुनिक दीवानी (सिविल) कानून की प्रतिकृति है। एक कबीले और दूसरे कबीले के बीच का मामला युद्ध अथवा वार्ता का मामला होता है, कानून का नहीं और कबीला–रहित व्यक्ति तथ्यतः और वस्तुतः 'बहिष्कृत' व्यक्ति होता है।

रक्त–संबंध के कारण समुदाय किसी सदस्य के प्रति किए गए अन्याय का प्रतिशोध लेने का दायित्व ग्रहण करता है। तटस्थ दृष्टि से जो रक्तपात किसी सदस्य के प्रति किए गए अन्याय के प्रतिशोध का बर्बर तरीका दीख पड़ता है, वह आत्मपरक दृष्टि से अपने बंधु के प्रति किए गए अन्याय के लिए समुदाय के सदस्यों के सहानुभूतिपूर्ण रोष का प्रदर्शन है। सहानुभूतिपूर्ण रोष कोमल भावना और क्रोध का मिश्रण है। वह वैसा ही है, जैसा कि माता–पिता के वात्सल्य के उस समय उपजता है, जब उनके सामने बच्चे के प्रति अन्याय होता है। यह रक्त–संबंध ही है, जिसके कारण यह सहानुभूतिपूर्ण रोष अथवा कोमल भावना और क्रोध का यह मिलाजुला रूप उपजता और उभरता है। किसी भी दृष्टि से व्यक्ति के लिए यह कोई नगण्य मूल्य नहीं है। प्रो. मैक्डोगल के शब्दों में :

कोमल भावना और क्रोध का यह गहरा गठजोड़ मानव के सामाजिक जीवन के लिए अति महत्वपूर्ण है। इसकी सही समझबूझ नैतिक भावनाओं के सही सिद्धांत के लिए बुनियादी बात है, क्योंकि इस प्रकार उपजा क्रोध सभी प्रकार के नैतिक रोष का स्त्रोत है और नैतिक रोष पर ही न्याय और सार्वजनिक विधि का अधिकांश भाग मुख्यतः आधारित है।

यह रक्त–संबंध ही उदारता का जनक है और वही अन्याय के प्रतिकार के लिए जरूरी नैतिक रोष को ललकारता है। रक्त–संबंध से वह इच्छा–शक्ति उपजेगी, जो हिंदुओं के अत्याचार का दमन का सामना करने के लिए सगे समुदाय का समर्थन जुटाएगी। आज तो अस्पृश्यों को उस अत्याचार को अकेले ही सहना पड़ता है। किसी अन्य समुदाय से रक्त–संबंध स्थापित करना ही वह सर्वोत्तम बीमा है, जिसकी व्यवस्था हिंदू–अत्याचार और हिंदू–दमन के खिलाफ अस्पृश्य कर सकता है।

रक्त–संबंध के अर्थ और कर्म के पूर्वोक्त निरूपण को जो व्यक्ति ध्यान में रखेगा, उसे इस प्रस्थापना को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि अपने अलगाव को अलविदा करने के लिए अस्पृश्यों को ऐसे अन्य समुदाय में शामिल होना ही पड़ेगा, जो जात–पांत को न मानता हो।

रक्त की नातेदारी अलगाव की विपरीत अवस्था है। अस्पृश्यों की दृष्टि में किसी अन्य समुदाय से रक्त–संबंध को स्थापित करना अलगाव की वर्तमान स्थिति को समाप्त करने के लिए एक और उपाय ही होगा। जब तक वे हिंदू बने रहेंगे, तब तक उनका अलगाव कदापि समाप्त नहीं होगा। हिंदुओं के रूप में उनका अलगाव उन पर आगे और पीछे, दोनों ओर से प्रहार करता है। हिंदू होने के नाते न केवल वे मुस्लिमों और ईसाइयों से अलग हैं, बल्कि वे हिंदुओं और अहिंदुओं, दोनों के लिए भी पराए हैं। इस अलगाव को खत्म करने का एक ही तरीका है। इसका दूसरा कोई तरीका नहीं है। वह यह है कि अस्पृश्य किसी अन्य अहिंदू समुदाय में शामिल हो जाएं और उसके सगे–संबंधी बन जाएं।

यह कोई निरर्थक प्रयास नहीं है। इस बात को वे सभी लोग स्वीकार करेंगे, जिन्हें अलगाव की हानियों और रक्त की नातेदारी के लाभों का ज्ञान व भान है। अलगाव के क्या दुष्परिणाम हैं? अलगाव का अर्थ है, सामाजिक बहिष्कार सामाजिक अनादर, सामाजिक भेदभाव और सामाजिक अन्याय। अलगाव का अर्थ है, सुरक्षा का अभाव, न्याय का अभाव, अवसर का अभाव। अलगाव का अर्थ है, सहानुभूति का अभाव, भाईचारे का अभाव, सहृदयता का अभाव। इतना ही नहीं अलगाव का अर्थ है, हिंदुओं की प्रत्यक्ष घृणा और उनका विरोध। दूसरी ओर, यदि अस्पृश्य किसी अन्य समुदाय के साथ रक्त का नाता जोड़ेंगे तो उन्हें उस समुदाय के भीतर बराबर का दर्जा, बराबर की सुरक्षा और बराबर का न्याय मिलेगा। वे उसकी सहानुभूति और उसका सद्भाव प्राप्त कर सकेंगे।

मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि विरोधियों के प्रश्न का यह सर्वांगपूर्ण उत्तर है। इससे पता चलता है कि धर्म–परिवर्तन से अस्पृश्यों को लाभ मिल सकता है। लेकिन यह वांछनीय है कि मामले पर और आगे विचार किया जाए तथा एक अन्य प्रश्न का निपटारा कर दिया जाए, जिसे धर्म–परिवर्तन के विरोधियों ने अभी तक नहीं उठाया है, पर वे उसे उठा सकते हैं। प्रश्न है : रक्त–संबंध स्थापित करने के लिए धर्म–परिवर्तन क्यों आवश्यक हैं?

इस प्रश्न का उत्तर स्वयं मिल जाएगा, यदि इस बात को ध्यान में रखा जाए कि समुदाय और समाज तथा रक्त–संबंध और नागरिकता में अंतर है।

समुदाय शब्द के सही अर्थ में वह रक्त–संबंधियों का समूह होता है। समाज अनेक समुदायों या रक्त–संबंधियों के विभिन्न समूहों का संकलन होता है। समुदाय को जो सूत्र एकसूत्रता में पिरोता है, उसे नागरिकता कहते हैं।

समाज में नागरिकता प्राप्त करने के और समुदाय में रक्त–बंधुता प्राप्त करने के साधन एकदम अलग–अलग हैं। नागरिकता देशीयकरण से प्राप्त होती है। नागरिकता की पूर्व शर्त यह है कि राज्य के प्रति राजनीतिक वफादारी को स्वीकार कर लिया जाए। रक्त–बंधुता प्राप्त करने की पूर्व शर्तें नितांत भिन्न है। मानव–विकास के एक चरण में रक्त–बंधुता प्राप्त करने की पूर्व शर्त थी, रक्त की समानता। क्योंकि संबंधी वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो यह मानता है कि वे एक ही पूर्वज के अंशज एवं वंशज हैं और उनकी नसों में एक ही रक्त प्रवाहित हो रहा है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि हर समूह वस्तुतः और तथ्यतः एक ही पूर्वज का वंशज है या नहीं। वास्तविकता तो यह है कि समूह अजनबी को संबंधी–वर्ग में शामिल कर लेता था, भले ही वह एक ही पूर्वज की उपज न हो। यह मजेदार बात है कि ऐसा नियम था कि यदि कोई अजनबी सात पीढ़ियों तक किसी समूह के साथ अंतर्विवाह करता रहता था तो वह संबंधी–वर्ग का सदस्य बन जाता था। मुद्दा यह है कि भले ही यह किस्सा–कहानी हो, पर संबंधी–वर्ग में शामिल होने की पूर्व शर्त थी, रक्त की समानता।

मानव–विकास के बाद के चरण में रक्त की समानता के स्थान पर धर्म की समानता रक्त–संबंध के लिए पूर्व शर्त हो गई। इस संबंध में यह जरूरी है कि प्रो. राबर्टसन द्वारा बताए गए इस महत्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखा जाए कि समुदाय में सामाजिक निकाय केवल व्यक्तियों का समूह नहीं होता है, बल्कि देवी–देवताओं और व्यक्तियों का समूह होता है। अतः जो अजनबी किसी समुदाय में शामिल होकर रक्त–संबंध स्थापित करना चाहता है, वह ऐसा तभी कर सकता है, जब वह समुदाय के देवों या देवी–देवताओं को स्वीकार कर ले। यथा 'ओल्ड टेस्टामेंट' की उक्तियों को लें। नाओमी रूथ से कहते हैं: 'मेरी बहन अपने लोगों और अपने देवों के बीच वापस चली गई।' रूथ का जवाब है, 'तेरे लोग मेरे लोग होगें और तेरा प्रभु मेरा प्रभु होगा।' इस सभी प्रमाणों से पता चलता है कि समुदाय में रक्त–संबंध की स्थापना साझे धर्म के प्रति उनकी निष्ठा के कारण होती है। साझे धर्म के बिना रक्त–संबंध स्थापित नहीं हो सकता।

जहां लोग इस ताक में हों कि धर्म–परिवर्तन संबंधी तर्क में दोष निकाले जाएं, वहां बेहतर होगा कि इस बात की कोई गुजांइश ही न छोड़ी जाए कि छिद्रान्वेषी कोई संदेह या गलतफहमी पैदा कर सकें। अतः यह बताना ठीक ही होगा कि कैसे और किस प्रकार धर्म रक्त–संबंध की स्थापना कर सकता है। जवाब सीधा–सादा है। सामूहिक खान–पान के जरिए वह ऐसा करता है। हिंदू अपनी जातिप्रथा का समर्थन करते हुए सहभोज के तर्क की खिल्ली उड़ाते हैं। वे कहते हैं : सहभोज में क्या धरा है? समाज–विज्ञान की दृष्टि से उत्तर है कि उसी में तो सब कुछ धरा है। रक्त–संबंध भाईचारे का सामाजिक प्रतिज्ञा–पत्र हैं। सभी प्रतिज्ञा–पत्रों की भांति इसे भी हस्ताक्षर करके, मुहरबद करके समर्पित करना पड़ता है। उसके बाद ही वह बाध्यकारी हो सकता है। हस्ताक्षर करने, मुहरबंद करने और समर्पित करने का तरीका क्या हो, इसकी व्यवस्था धर्म करता है। वह तरीका है, प्रभु–भोज में भागीदारी का। प्रो. स्मिथ के शब्दों में :

उस भाई–चारे का अंतिम स्वरूप क्या होता है, जो लोगों के सामूहिक खान–पान के फलस्वरूप बनता है या घोषित किया जाता है? हमारे जटिल समाज में समाजिक भाई–चारा कई प्रकार और कई परतों वाला होता है। कतिपय प्रयोजनों के लिए लोग कर्तव्य और सम्मान के बंधनों से एकजुट हो सकते हैं और अन्य सभी प्रयोजनों के लिए वे अलग–थलग रहते हैं। प्राचीन–काल में भी, जैसे 'ओल्ड टेस्टामेंट' में हम देखते हैं कि विभिन्न प्रकार की प्रतिज्ञाओं को पक्का करने के लिए सामूहिक सहभोज के पवित्र संस्कार की व्यवस्था थी। लेकिन हर दशा में प्रतिज्ञा निरंकुश और अलंघनीय है। नीति–शास्त्र की दृष्टि से उसे पूर्ण दायित्व वाला कर्तव्य कहा जा सकता है। अब अति आदिम समाज में केवल एक ही प्रकार का भाईचारा है और वह निरंकुश और अलंघनीय है। आदिम मानव के अनुसार, अन्य सभी मानवों की केवल दो श्रेणियां हैं। वे जिनके लिए उसका जीवन पवित्र है और वे जिनके लिए व पवित्र नहीं है। पहली श्रेणी के लोग उसके बंधु–बांधव है। दूसरी श्रेणी के लोग पराए हैं और खतरनाक शत्रु हैं, और उनके साथ तब तक किसी अलंघनीय संबंध स्थापित करने की बात सोचना भी निरर्थक है, जब तक कि उन्हें पहले उस परिधि में नहीं लाया जाता, जिसमें हर व्यक्ति का जीवन उसके सभी साथियों के लिए पवित्र है।

यदि अस्पृश्यों के लिए अपना अलगाव तथा उससे पैदा होने वाले उपद्रवों को समाप्त करने के वास्ते केवल नागरिकता पर्याप्त नहीं है, यदि उसक एकमात्र उपाय रक्त–संबंध की स्थापना है, तो उसका एक ही रास्ता है कि उस समुदाय के धर्म को अंगीकार कर लिया जाए, जिससे वे रक्त–संबंध स्थापित करना चाहते हैं।

अभी तक प्रस्तुत तर्क का उद्देश्य यह दर्शाना है कि किस प्रकार धर्म–परिवर्तन अस्पृश्यों के अलगाव की समस्या का समाधान कर सकता है। अभी दो अन्य प्रश्नों पर विचार करना है। एक तो यह कि क्या धर्म–परिवर्तन से उनकी हीन भावना दूर हो जाएगी? निश्चय ही हम इस बारे में कोई सिद्धांत नहीं बघार सकते। लेकिन हम इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में तो दे ही सकते हैं। अस्पृश्यों की हीन भावना उनके अलगाव से, उनके प्रति भेदभाव से और उनके प्रति समाज की बेरूखी से उपजी है। इन्हीं ने उनके भीतर लाचारी की भावना भरी है। इन्हीं के कारण हीन भावना पैदा हुई। हीन भावना से उनका आत्म–बल क्षीण हो गया।

क्या धर्म अस्पृश्यों की इस मनोवृत्ति को बदल सकता है? मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि धर्म यह कर्म कर सकता है, यदि वह सही प्रकार का धर्म हो, यदि धर्म की दृष्टि में व्यक्ति पतित, निकम्मा और बहिष्कृत व्यक्ति न हो, बल्कि बांधव एवं मानव–प्राणी हो, यदि धर्म उसे ऐसा वातावरण प्रदान करे जिसमें उसे लगे कि वहां ऐसी संभावनाएं हैं कि वह स्वयं को दूसरे हर मानव–प्राणी के बराबर समझ सके, तो कोई कारण नहीं कि अस्पृश्य ऐसे धर्म को अंगीकार करके अपने युगों पुराने उस निराशावाद को दूर न कर सकें, जिसके कारण उनमें हीन भावना भर गई है। जैसा कि प्रो. एल्लवुड ने कहा है :

मूल्यांकन धर्म की मूल प्रवृत्ति है। वह व्यक्ति के विचारों को नहीं, अपितु उसकी इच्छा और उसके मनोभावों को सर्वव्यापी बनाता है। इस प्रकार वह अपने जगत के साथ अपनी इच्छा और मनोभावों को समरसता प्रदान करता है। अतः वह निराशावाद और नैराश्य के इलाज का शुल्क है। चाहे सभ्य मानव हो या असभ्य, वह जीवन के संग्राम में दोनों के मन में आशा का संचार करता है और आत्म–विश्वास को जागृत करता है। जैसा कि हमने कहा है, वह ऐसा करता है, क्योंकि वह ओजस्वी भावना को स्फूर्ति प्रदान करता है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि वह ओजस्वी भावना को इसलिए स्फूर्ति प्रदान करता है कि वह एक अनुकूलन प्रक्रिया है और उसमें जीवन के सभी निम्नतर केंद्रों की मदद से उच्चतर केंद्रों को सुदृढ़ किया जाता है। दूसरे शब्दों में, मनोदैहिक शब्दावलि में मूल्यों को सर्वव्यापी बनाने का अर्थ है कि निम्नतर स्नायु–केंद्र अपनी शक्तियां उच्चतर स्नायु–केंद्रों में उंडेल देते हैं। इस प्रकार वे समन्वय करते हैं और अधिक–से–अधिक मात्रा में अत्यावश्यक जीवन–दक्षता को भीतर की ओर प्रवाहित करते हैं। इस प्रकार जीवन के संकट का सामना करने के लिए धर्म ऊर्जा के नए स्तरों को दोहन करता है और साथ–ही–साथ बाह्य और आंतरिक के बीच और गहरा समन्वय करता है।

क्या धर्म–परिवर्तन अस्पृश्यों की सामान्य सामाजिक

स्थिति में सुधार करेगा? यह समझ पाना कठिन है कि किस प्रकार इस प्रश्न के बारे में कोई मतभेद हो सकता है।

शेक्सपियर ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है और प्रायः उसे उद्‌धृत किया जाता है कि नाम में क्या धरा है। पर उससे नाम की समस्या का पर्याप्त समाधान नहीं होता। कहते हैं कि यदि गुलाब को गुलाब न कहा जाए तो भी वह उतनी ही मधुर सुगंध देगा, पर यह कथन तभी सच होगा यदि नामों का कोई प्रयोजन न हो और यदि लोग नामों पर निर्भर करने के बजाए हर मामले की निरख-परख करने का कष्ट उठाएं और अपनी निरख-परख के आधार पर उसके बारे में अपने विचार और दृष्टिकोण बनाएं। स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण है। नामों का अति महत्वपूर्ण प्रयोजन है। सामाजिक अर्थव्यवस्था में उनकी भारी भूमिका है। नाम प्रतीक है। हर नाम के साथ किसी वस्तु के बारे में कतिपय विचार और भाव जुड़े हैं। वह ठप्पा है। लोग ठप्पे से जान जाते हैं कि वह क्या है। इससे उन्हें कष्ट नहीं उठाना पड़ता। उन्हें व्यक्तिगत रूप से हर मामले की निरख-परख नहीं करनी पड़ती। उन्हें स्वयं यह तय नहीं करना पड़ता कि वस्तु से सामान्यतः जुड़े विचार और भाव सही हैं या नहीं। समाज में लोगों का पाला इतनी सारी वस्तुओं से पड़ता है कि उनके लिए हर मामले की निरख-परख करना असभव ही होगा। वे नाम पर निर्भर करेंगे। यही कारण है कि सभी विज्ञापक बढ़िया नाम खोजने के लिए आतुर रहते हैं। यदि नाम आकर्षक नहीं होगा तो लोग चीज नहीं खरीदेंगे।

'अस्पृश्य' नाम बुरा नाम है। वह घृणा पैदा करता है। वह अप्रिय है और उससे दुर्गन्ध आती है। 'अस्पृश्य' नाम ही अस्पृश्य के प्रति हिंदू के सामाजिक रवैए का निर्धारण करता है। एक नपातुला रवैया 'अस्पृश्यों' के प्रति है। उसकी नापतोल उस दुर्गन्ध से की जाती है, जो 'अस्पृश्य' नाम के भीतर भरी है। लोग हर अस्पृश्य के व्यक्तिगत गुणों की परख करना ही नहीं चाहते, भले ही वह कितना भी गुणी क्यों न हो। सभी अस्पृश्य यह अनुभव करते हैं। आम तौर पर कोशिश यही होती है कि वे स्वंय को 'अस्पृश्य' के अलावा किसी अन्य नाम से पुकारें। चमार अपने आपको रविदास अथवा जाटव कहते हैं। डोम अपने आपको शिल्पकार कहते हैं। पेरिया स्वयं को आदि-द्रविड़ कहते हैं। मदिगा स्वंय को अरून्धात्य कहते हैं। महार स्वयं को चोखामेला अथवा सोमवंशी कहते हैं। भंगी स्वंय को बाल्मीकि कहते हैं। अपनी बस्तियों से बाहर वे सभी स्वयं को ईसाई कहेंगे।

अस्पृश्य जानते हैं कि यदि वे स्वंय को अस्पृश्य कहेंगे तो हिंदू एकदम उबल पड़ेगा और उन पर अपने क्रोध और द्वेष की वर्षा कर देगा। यही कारण है कि वे स्वयं ऐसे नाम रखते हैं, जो रक्षा के लिए रंग बदलने की प्रक्रिया के अनुकूल हों।

प्रायः ऐसा होता है कि रंग बदलने का यह प्रयास अपने प्रयोजन में पूर्णतः विफल हो जाता है, क्योंकि हिंदुओं की दृष्टि में हिंदू होना कोई अंतिम सामाजिक श्रेणी नहीं है। अंतिम सामाजिक श्रेणी है, जाति अथवा उप-जाति, यदि कोई उप-जाति है। जब हिंदू आपस में मिलते हैं तो निश्चय ही वे पूछते हैं, 'आपका परिचय'। यदि इस प्रश्न का उत्तर दिया जाए कि 'मैं हिंदू हूं' तो वह संतोष जनक उत्तर नहीं होगा। निश्चय ही उसे अंतिम उत्तर के रूप में स्वीकार नहीं किया जाएगा। निश्चय ही पूछताछ जारी रहेगी। निश्चय ही 'हिंदू' उत्तर के बाद प्रश्न किया जाएगा, 'कौन जात?'। निश्चय ही उसके पूछा जाएगा : 'कौन उप-जात?' जब पूछने वाला अंतिम सामाजिक श्रेणी, यानी जाति अथवा उप-जाति पर पहुंच जाएगा, तभी वह पूछताछ बंद करेगा।

जो अस्पृश्य रक्षा के लिए रंग बदल कर नया नाम धारण करता है, उसे पता चलता है कि नए नाम से काम नहीं बनता। ताबड़तोड़ प्रश्नों की बौछार से उसे धराशाही कर दिया जाता है। उसे बताना पड़ता है कि वह अस्पृश्य है। शुरू में ही स्वेच्छा से असलियत बता देने से जितना गुस्सा उस पर उतारा जाता, उससे भी कहीं अधिक कोप का भाजन उसे असलियत छिपाने के बाद बनना पड़ता है।

इस चर्चा से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि अस्पृश्यों का घटिया दर्जा एक दुर्गन्ध वाले नाम के साथ जुड़ा हुआ है। जब तक नाम नहीं बदला जाता, तब तक उनकी सामाजिक स्थिति में सुधार की कोई गुंजाइश नहीं है। दूसरी बात यह है कि हिंदू धर्म के भीतर नाम बदलने से काम नहीं बनेगा। हिंदू ऐसे नाम की जड़ तक पहुंचने से नहीं चूकेगा और अस्पृश्य को स्वयं यह स्वीकार करने के लिए विवश कर देगा कि वह एक अस्पृश्य है।

नाम का महत्व ही नहीं, भारी महत्व है, क्योंकि नाम अस्पृश्यों की स्थिति में क्रांति ला सकता है। लेकिन निश्चय ही नाम ऐसा हो, जो हिंदू धर्म से बाहर के समुदाय का नाम हो। वह ऐसा हो कि हिंदू धर्म उसे विकृत और अवनत न कर सके। ऐसा नाम अस्पृश्यों की संपत्ति केवल तभी हो सकता है, जब वे धर्म-परिवर्तन कर लें। हिंदू धर्म के भीतर नाम बदलकर धर्म-परिवर्तन गुप्त धर्म-परिवर्तन होगा और वह किसी काम का नहीं हो सकता।

धर्म-परिवर्तन संबंधी यह चर्चा कुछ निरर्थक प्रतीत हो सकती है। वह निरर्थक होगी भी। वह तब तक सार्थक नहीं हो सकती, जब तक यह मालूम न हो जाए कि अस्पृश्य किस धर्म को स्वीकार करना चाहते हैं। क्योंकि धर्म-परिवर्तन से कौन-सा विशेष लाभ प्राप्त होगा, वह चुने गए धर्म और उस धर्म के अनुयायियों की सामाजिक स्थिति पर निर्भर करेगा। हो सकता है कि एक धर्म उन्हें धर्म-परिवर्तन के तीनों के तीनों लाभ दे दे, दूसरा केवल दो ही लाभ दे और तीसरा केवल एक ही लाभ दे। अस्पृश्य किस धर्म को चुनें, यह इस अध्याय की विषय-वस्तु नहीं है। इस अध्याय की विषय-वस्तु है कि क्या धर्म-परिवर्तन अस्पृश्यता की समस्या को हल कर सकता है। निश्चय ही इसका उत्तर है, 'कर सकता है।'

निश्चय ही हमारे तर्क का बल धर्म के उस दृष्टिकोण पर निर्भर करता है, जो सामान्य दृष्टिकोण से कुछ भिन्न है। सामान्य दृष्टिकोण के अनुसार धर्म का सरोकार नारायण से नर के संबंध से है और उसका केवल इतना ही अर्थ है। हमारे दृष्टिकोण के अनुसार धर्म का प्रयोजन आत्माओं का त्राण नहीं है, अपितु उसका प्रयोजन तो है समाज की रक्षा और व्यक्ति का कल्याण। जो लोग धर्म के सामान्य दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं, केवल उनके लिए ही यह समझ पाना कठिन है कि किस प्रकार धर्म-परिवर्तन अस्पृश्यों की समस्या को हल कर सकता है। जो लोग इस अध्याय में वर्णित धर्म-संबंधी दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं, उन्हें हमारे निष्कर्ष की सार्थकता को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

साभार - बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर
सम्पूर्ण वाङ्मय खंड-10, पृष्ठ सं. 333 से 353
डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

अध्याय 3 -शूद्रों की स्थिति के बारे में ब्राह्मणवादी सिद्धांत

शूद्रों की उत्पत्ति के संबंध में ब्राह्मणों के दृष्टिकोण का विश्लेषण किया जा चुका है। जब हम शूद्रों की नागरिक स्थिति के संबंध में ब्राह्मणों के दृष्टिकोण को देखते हैं तो पाते हैं कि उनके विधान में शूद्रों के लिए निर्योग्यताओं के बारे में बहुत लंबी सूची बनाई गई है और उसमें कठोर ताड़ना और दंड की व्यवस्था है।

संहिताओं और ब्राह्मण ग्रंथों में शूद्रों की निर्योग्यताओं और उनके लिए दंड विधान को निम्नलिखित उदाहरण पाए जाते हैं -

1. कथन संहिता (31.2) और मैत्रयानी संहिता (4.1. 3.) तथा (1.8.3.) के अनुसार शूद्र को उस गाय का दूध नहीं निकालने देना चाहिए जिसका दूध "अग्निहोत्र के उपयोग में लाया जाता है।"

2. शतपथ ब्राह्मण (3.1.1.1.) मैत्रयानी संहिता (10.1. 1.6.) तथा पंचविंश ब्राह्मण (6.1.11.) के अनुसार यज्ञ करते समय शूद्र से नहीं बोला जाए तथा यज्ञ के समय शूद्र उपस्थित न हों।

3. शतपथ ब्राह्मण (14.1.3.) और कथक संहिता (11. 10) में आगे कहा है :- 'शूद्र को सोमरस का पान करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए।'

4. ऐतरेय ब्राह्मण (6.29.4) और पंचविंश ब्राह्मण (6.1. 11.) ने तो निम्नतम स्तर पर पहुंच कर यह कह दिया है। कि शूद्र दूसरों का सेवक है। (इसके अतिरिक्त कुछ नहीं)।

शूद्र के विरूद्ध छोटी से बदली आगे चल कर तूफान बन कर शूद्रों पर बरसी क्योंकि आपस्तम्ब और बोद्यायन आदि जैसे सूत्रकारों और मनु आदि जैसे स्मृतिकारों द्वारा बनाए विधानों ने शूद्र के लिए प्रतिबंधों का इतना अम्बार लगाया है जो कल्पनातीत है।

ये निर्योग्यताए इतनी भयानक हैं कि इन्हें जब तक लिपिबद्ध नहीं किया जाएगा इन पर विश्वास नहीं होगा। इनकी संख्या इतनी अधिक है कि इनका पूर्ण विवरण यहाँ देना असंभव है। जिन्हें इनके विषय में जानकारी नहीं है उनके विधान में जो मंत्र बिखरे हैं हम उनके लिए कुछ उद्धरण स्मृतियों और सूत्रों से देंगे।

II

एक

क) आपस्तम्ब धर्म सूत्र में कहा है :-

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं। इनमें क्रमशः हर वर्ण अपने बाद वाले वर्ण से जन्म से ही श्रेष्ठ है। इनमें शूद्र और जिन्होंने पतित कार्य किए हैं उनको छोड़ कर सभी को (1) उपनयन (जनेऊ धारण करना), (2) वेदाध्ययन तथा (3) यज्ञ का अधिकार है।

ख) वशिष्ठ धर्म सूत्र में जो कहा गया है, वह इस प्रकार है :- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण है। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विज कहे जाते हैं। इनका प्रथम जन्म मां के पेट से होता है। दूसरा यज्ञोपवीत संस्कार से। दूसरे जन्म में सावित्री मां होती है और गुरू पिता।

गुरू वेद का ज्ञान देने के कारण पिता माना गया है। चारों वर्ण संस्कार का मूल वर्ण में जन्म के कारण भिन्न हैं।

वेद की ऋचाओं में भी यह कहा गया है - ब्राह्मण उसके मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य उसकी जंघाओं से और उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। वेदों में यह भी कहा गया है कि शूद्र को यज्ञोपवीत का अधिकार नहीं है। उसने ब्राह्मण को गयात्री छंद से, क्षत्रिय को त्रिष्टुभ से, उत्पन्न किया है।

ग) मनुस्मृति में इस विषय पर निम्न विधान प्रस्तुत किया गया है :- नियंता ने विश्व की समृद्धि हेतु मुख, बाहु, जंघा और चरणों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उत्पन्न किया। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विज कहलाते हैं जबकि चौथा वर्ण शूद्र का एक ही बार जन्म होता है।

दो

क) आपस्तम्ब धर्म सूत्र का कथन है :-

वर्णत्रयी (द्विज) शमशान या उसके निकट वेदपाठ न करें।

यदि शमशान पर गांव बस गया हो या उस स्थान को खेती करने के योग्य बना दिया गया हो तब वहां वेद पाठ निषद्ध नहीं। किंतु यदि वह स्थान अब भी शमशान के नाम से प्रचलित हो तो वहां वेद पाठ निषद्ध है।

शूद्र तथा जाति से बहिष्कृत शमशान भूमि के समान है और सूत्र संख्या 6 इन पर लागू होता है। कुछ लोगों का कहना है कि जिस मकान में शूद्र और बहिष्कृत रहते हैं वहाँ विद्या अध्ययन नहीं करना चाहिए। यदि विद्यार्थी और शूद्र स्त्री एक दूसरे को देख लें तब वेद के मंत्रोच्चारण में बाधा उत्पन्न करनी चाहिए।

अपवित्रावस्था में ब्राह्मण या अन्य उच्च वर्ण वाला व्यक्ति यदि किसी खाद्य पदार्थ को स्पर्श कर दे तो वह अपवित्र तो हो जाता है, अखाद्य नहीं होता।

किंतु यदि अपवित्र शूद्र द्वारा लाया गया हो भोजन खाने योग्य नहीं होता। शूद्र यदि भोजन करते समय स्पर्श कर दे तो भोजन करने वाले को भोजन छोड़ देना चाहिए।

(ख) विष्णु स्मृति का विधान है - द्विज की लाश कोई शूद्र न ले जाए भले ही वह मृतक का कोई संबंधी ही क्यों न हो। शूद्र की लाश को कोई द्विज न ले जाए। माता और पिता के शव को उनका वह पुत्र ले जाए जो अपने माता पिता की जाति का ही हो। शूद्र किसी द्विज के शव को कदापि न ले जाए, चाहे वह मृतक उसका पिता ही क्यों न हो।

ग) वशिष्ट धर्म सूत्र में कहा गया है -

अब हम खाद्य और अखाद्य की व्याख्या करते हैं :-

चिकित्सक, शिकारी, व्यभिचारी स्त्री, गदाधारी, चोर, अभिशप्त, नपुंसक द्वारा दिया गया भोजन अथवा जाति से बहिष्कृत कर दिए का भोजन नहीं खाना चाहिए। न ही किसी कंजूश, श्राद्ध कर्म करने वाले, कैदी, रोगी, सोमलता के विक्रेता, बढ़ई, धोबी, शराब बेचने वाले, गुप्तचर, सूदखोर अथवा चर्मकार का और न ही किसी शूद्र का दिया हुआ भोजन करना चाहिए। कुछ लोग शूद्रों की नस्ल को शमशान भूमि की संज्ञा देते हैं। अतः शूद्रों की उपस्थिति में वेद पाठ नहीं करना चाहिए। वे यम द्वारा उदघोषित निम्नांकित मंत्र का उल्लेख करते हैं :-

"दुष्ट शूद्र जाति स्पष्ट रूप से शमशान भूमि की भांति है, अतः इनके समक्ष वेद पाठ नहीं किया जाना चाहिए।"

कुछ व्यक्ति पवित्र वेदाध्ययन से और कुछ आत्म संयम से श्रद्धापात्र हो जाते हैं, किंतु जिस ब्राह्मण में शूद्र का दिया

भोजन नहीं किया हो वह आदर का सर्वोत्तम पात्र होता है। यदि शूद्र द्वारा दिया गया भोजन ब्राह्मण के आमाशय में हो और वह मृत्युगामी हो जाता है तो वह अगले जन्म में ग्रामीण सूअर का जन्म धारण कर उसी शूद्र के घर जन्म लेता है, भले ही वह ब्राह्मण जिसका शरीर शूद्र प्रदत्त भोजन से पोषित है प्रतिदिन वेद पाठ करे, अग्नि होम करे या जाप करे। वह कदापि उच्च पद को प्राप्त नहीं कर सकता। शूद्र प्रदत्त भोजन ग्रहण करने पर यदि वह स्वजातीय पत्नी से सहवास कर संतानोत्पत्ति करता है तो वह संतान भी उसी की जाति की होगी जिस शूद्र का भोजन ग्रहण किया गया है और स्वर्ग के द्वार उनके लिए बंद मिलेंगे।

घ) मनुस्मृति में व्याख्या है :–

ब्राह्मण शूद्र राज्य में निवास न करे और न उस स्थान पर जो दुरात्माओं की बस्तियों से घिरा हो या नास्तिक वेद निंदकों से प्रभावित हो या जहां चांडाल आदि अधम जातियां निवास करती हों।

शूद्र के यहां यज्ञ संपन्न कराने वाले ब्राह्मण को श्राद्ध कर्म में अन्य ब्राह्मणों के साथ भोजन करने के लिए निमंत्रण नहीं देना चाहिए। उसके स्पर्श से भोजन कराने का पूरा लाभ यजमान को नहीं मिलता। मृत शूद्र को नगर के दक्षिण, वैश्य को पश्चिमी, क्षत्रिय को उत्तरी तथा ब्राह्मण को पूर्वी द्वार से ले जाएं।

तीन

क) आपस्तंभ धर्म सूत्र में व्याख्या है – "ब्राह्मण दाहिनी भुजा कान की ऊंचाई तक उठा कर, क्षत्रिय वक्षस्थल की ऊंचाई तक, वैश्य कमर की ऊंचाई तक तथा शूद्र दोनों हाथ नीचे की ओर जोड़ कर प्रथम प्रणाम करें।

प्रत्युत्तर में प्रथम (तीन) वर्णों से संबंधित मनुष्य को उच्चारण करने वाला अंतिम शब्द तीन अंगुल नीचे भुजा उठा कर अभिभादन करें।

यदि कोई शूद्र ब्राह्मण के घर अतिथि बन कर आए तो ब्राह्मण उससे कुछ काम करा कर तब भोजन दें अन्यथा वह सम्मानित माना जाएगा। अथवा ब्राह्मण का दास राजकीय भंडार से चावल लाकर शूद्र को देकर उसका उपकार करे।

ख) विष्णु स्मृति के अनुसार अतिथि सत्कार करने अथवा वेदयज्ञ या श्राद्ध में उसको (शूद्र को) भोजन कराने का दंड एक सौ पण है।

ग) मनुस्मृति का आदेश है – दस वर्ष का ब्राह्मण सौ वर्ष के क्षत्रिय के पितातुल्य होता है। धन, बंधुत्व, अवस्था, कर्म और विद्या ये पांच आदर सूचक स्थान हैं। अंतिम 'विद्या' अत्यंत महत्वपूर्ण आदर सूचक है। तीनों सवर्णों में उपरोक्त पांचों गुणों में जिनका जितना अधिक गुण हो वह उतना ही मान्य होता है। किंतु शूद्र चाहे जितना ही ज्ञानी या धन संपन्न हो वह 90 वर्ष की आयु के पश्चात ही माननीय होता है। इसके पूर्व नहीं।

अधिक आयु होने, बाल पकने, अधिक धनी होने या अधिक परिवार बढ़ाने से कोई बड़ा नहीं होता। ऋषियों ने ऐसी व्यवस्था की है कि वेद वेदांत का ज्ञानी ही सबसे बड़ा होता है।

ज्ञान से ब्राह्मणों की, बल से क्षत्रियों की, धन से वैश्यों की और आयु से शूद्रों की श्रेष्ठता होती है। केवल सिर के बाल पक जाने से कोई वृद्ध नहीं होता। किंतु वेद वेदांग को जानने वाला अल्पायु होते हुए भी वृद्ध के समान होता है, ऐसा देवताओं का कथन है।

ब्राह्मण के घर आने वाले क्षत्रिय, वैश्य, मित्र, स्वजन और गुरू अतिथि नहीं कहे जाते। यदि कोई क्षत्रिय अतिथि के रूप में आए तो पहले भोजन करने के बाद ही ब्राह्मण उसे भोजन दे। यदि वैश्य या शूद्र ब्राह्मण के अतिथि के रूप में आएं तो उन्हें सेवकों के साथ दया भाव प्रदर्शित करते हुए भोजन दें।

चार

क) आपस्तम्ब धर्म सूत्र के अनुसार :–

क्षत्रिय के हत्यारे को एक हजार गायें, वैश्य के हत्यारे को सौ गायें तथा शूद्र के हत्यारे को दस गायें ब्राह्मण को दान कर प्रायश्चित करना होगा।

ख) गोतम धर्म सूत्र के अनुसार :–

क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मण को अपशब्द कहने पर एक सौ कांस्यपण, आघात करने पर उससे दुगुना अर्थ दंड है। ब्राह्मण को अपशब्द कहने पर वैश्य को क्षत्रिय से डेढ़ गुना दंड देना होगा। इसके विपरीत ब्राह्मण क्षत्रिय को अपशब्द कहे तो वह आर्धा अर्थात पचास कांस्यपर्ण देगा। इसी प्रकार वैश्य को अपशब्द कहने पर ब्राह्मण क्षत्रिय के मामले की अपेक्षा पच्चीस कांस्यपर्ण देगा। किंतु यदि शूद्र को अपशब्द कहे तो वह कुछ भी दंड न देगा।

ग) बृहस्पति के धर्म सूत्र के अनुसार :–

ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिय को अपशब्द कहने पर पचास पण, वैश्य को अपशब्द कहने पर पच्चीस पण और शूद्र को अपशब्द कहने पर साढ़े बारह पण दंड देना होगा। यह दंड केवल गुणवान या धार्मिक शूद्र को अपशब्द कहने पर अर्थात जो अपना शूद्रत्व स्वीकार कर स्वेच्छा से सेवारत है और निरपराध है। इसके विपरीत ब्राह्मण द्वारा किसी अधर्मी शूद्र को अपशब्द कहने पर किसी दंड का विधान नहीं है।

वैश्य यदि क्षत्रिय को अपशब्द कहे तो वह सौ पण दंड देगा। किंतु क्षत्रिय वैश्य को अपशब्द कहे तो उसका आधा दंड देगा। क्षत्रिय यदि शूद्र को अपशब्द कहे तो केवल बीस पण दंड देगा। किंतु वैश्य शूद्र को अपशब्द कहे तो उसका दुगुना दंड देगा। इसके विपरीत शूद्र वैश्य को अपशब्द कहे प्रथम उल्लिखित दंड देगा। क्षत्रिय को गाली देने पर बीच का दंड और ब्राह्मण को अपशब्द कहने पर कठोरतम दंड का भागी होगा।

घ) मनुस्मृति के अनुसार :–

क्षत्रिय ब्राह्मण को कटुवचन कहे तो एक सौ पण दंड, वैश्य ब्राह्मण को अपशब्द कहे तो वह एक सौ पचास पण या दो सौ किंतु शूद्र को प्राण दंड देना होगा। इसके विपरीत यदि ब्राह्मण क्षत्रिय का अपमान करे तो पचास पण, वैश्य का अपमान करे तो पच्चीस पण किंतु शूद्र का अपमान करने पर केवल साढ़े बारह पण दंड देना होगा।

क्षत्रिय की हत्या करने पर ब्राह्मण हत्या के दंड का चौथा भाग प्रायश्चित, अपने कर्तव्य में संलग्न वैश्य की हत्या करने पर आठवां भाग प्रायश्चित और शूद्र की हत्या करने पर सोलहवां भाग प्रायश्चित करेगा। यदि भूल से ब्राह्मण से क्षत्रिय की हत्या हो जाए तो एक बैल और एक हजार गाएं ब्राह्मण को दान करे अथवा तीन वर्ष तक गांव के बाहर वृक्ष के नीचे रह कर जटा बढ़ा कर प्रायश्चित करे। अपनी वृत्ति में संलग्न वैश्य की अनजाने में हत्या करने पर ब्राह्मण एक वर्ष तक प्रायश्चित करे और एक सौ एक गाएं ब्राह्मणों को दान करे, किंतु शूद्र का अनजाने में वध हो जाने पर 6 मास तक प्रायश्चित करे अथवा एक बैल और दस सफेद गाएं पुरोहित को दान करे।

ङ) विष्णु स्मृति के अनुसार :–

शरीर के जिस अंग से निम्न वर्ण का मनुष्य अपने से उच्च वर्ण वाले का अपमान करे, या आघात करे, राजा उसके उस अंग को कटवा दे। यदि अपने से उच्च वर्ण वाले मनुष्य के आसन पर बैठ जाए तो राजा उसके चूतड़ को दाग कर उसे देश से निकाल दे। यदि वह थूक दे तो उसके दोनों होंठ कटवा दे। यदि अपान वायु विसर्जित (पाद) कर दे तो उसका पिछला हिस्सा काट दे। यदि गाली दे तो उसकी जिव्हा काट दे। इसी प्रकार यदि निम्न वर्ण में उत्पन्न पुरूष अपने से उच्च वर्ण को गर्वोक्ति से कर्तव्य पालन संबंधी कुछ सलाह दें तो राजा उसके मुंह पर गरम तेल डलवा दें। यदि शूद्र उच्च वर्ण वाले को अपमान से नाम लेकर पुकारे तो उसकी जीभ में दस अंगुल की कील आग से लाल करके गाड़ दे।

पांच

क) वृहस्पति स्मृति के अनुसार –

"यदि शूद्र धर्मोपदेश दे, वेदोच्चारण करे या ब्राह्मण का अपमान करे तो उसकी जीभ काट दी जाए।"

ख) गौतम धर्म सूत्र के अनुसार :–

"अब यदि वह जान बूझ कर वेद पाठ का श्रवण करे तो उसके कान में पिघला हुआ सीसा या लाख डलवा दे। यदि वेद पाठ करे तो उसकी जीभ कटवा दी जाए, यदि वह वेद मंत्र का स्मरण करे तो उसके टुकड़े कर दिए जांए।

ग) मनुस्मृति के अनुसार :–

"वेतन लेकर पढ़ाने वाला या वेतन देकर पढ़ने वाला शूद्र, शूद्र से पढ़ने वाला या शूद्र को पढ़ाने वाला, देव और पित्रों दोनों के अनुष्ठान में त्याज्य है।"

शूद्र को सलाह न दे, उच्छिष्ट और हवि शेषांश न दे। उसे धर्म और व्रत का प्रत्यक्ष उपदेश भी न दे। जो धर्म का उपदेश और व्रत का आदेश करता है वह शूद्र के साथ असंवृत नामक अंधकारमय नरक में गिरता है।

शूद्र के सम्मुख वेद पाठ न करें। रात के पिछले प्रहर में वेद पढ़ कर थके हुए ब्राह्मण को सोना नहीं चाहिए।

छः

मनुस्मृति का उपदेश है :–

"ब्राह्मण शूद्र का धन बेरोक–टोक ले सकता है, क्योंकि शूद्र का अपना धन कुछ नहीं है, समस्त धन उसके स्वामी का है।

वास्तव में धन संचय करने में समर्थ शूद्र धन संग्रह न करे क्योंकि धन प्राप्त कर वह ब्राह्मण को ही सताता है।"

सात

मनुस्मृति का राजा के लिए परामर्श :–

"जन्म से ब्राह्मण अथवा स्वयं को ब्राह्मण कहलाने वाला राजा को धर्म अथवा राजनीति सिखा सकता है, शूद्र नहीं। जिस राजा के यहां शूद्र न्यायकर्ता होता है उसका राज्य कीचड़ में धंसी गाय की भांति धरातल को चला जाता है। जिस देश में शूद्र अधिक हों, नास्तिक हों, तथा द्विज न बसते हों वह देश अकाल और रोग से पीड़ित होकर नष्ट हो जाता है।"

आठ

क) आपस्तम्ब धर्म सूत्र कहता है :–

"धर्म पालन करने वाले तपस्वी तथा ब्राह्मण का चरण धोकर पीने वाले शूद्र, अंधे, गूंगे, बहरे और रोगी (जब तक अशक्त रहें) को कर मुक्त रखा जाए।

शूद्र का धर्म है कि तीनों वर्ण की सेवा करे। वह उच्च वर्ण की जितनी अधिक सेवा करेगा उसे उतना ही अधिक पुण्य लाभ होगा।

ख) मनुस्मृति का कथन है :–

"महा तेजस्वी (ब्रह्मा) ने विश्व की रक्षा हेतु मुख, बाहु, जंघा और पांव से उत्पन्न होने वाले जीवों का पृथक कर्म निर्धारित किया है। ब्राह्मण के लिए पढ़ना–पढ़ाना, यज्ञ कराना–करना, दान देना–लेना, कर्म निश्चित किए हैं। क्षत्रिय के लिए रक्षा करना, दान देना, यज्ञ कराना, पढ़ना, विषय भोग में आसक्त न होना, कर्म निर्धारित किए हैं। पढ़ना, पशु पालन करना, यज्ञ करना, व्यापार करना, खेती करना और ब्याज पर रूपया देना वैश्यों का कर्म है। शूद्र के लिए उपरोक्त तीनों वर्णों का श्रद्धाभाव से सेवा करना एकमात्र कर्म निश्चित किया है।

नौ

क) आपस्तम्ब धर्म सूत्र कहता है :–

"शूद्र स्त्री से द्विज वर्ण का पुरूष व्याभिचार करे तो उसे देश निकाल दिया जाए। इसके विपरीत यदि शूद्र किसी द्विज स्त्री से व्याभिचार करता है तो वह प्राणदंड का भोगी होता है।"

ख) गौतम धर्म सूत्र कहता है :–

"यदि शूद्र आर्य स्त्री के साथ संभोग करे तो उसका लिंग काट कर उसकी समस्त संपत्ति छीन ली जाए किंतु स्त्री का कोई अभिभावक है तो शूद्र का लिंग काट कर उसे प्राणदंड दिया जाए।

ग) मनुस्मृति का आदेश है :–

"उच्चतम वर्ण की कन्या के साथ सहवास करने वाला शूद्र प्राण दंड के योग्य है।"

समान वर्ण की महिला के साथ सहवास करने वाला कन्या के पिता को धन से संतुष्ट कर विवाह कर ले।

जो शूद्र अभिभावक विहीन द्विज स्त्री के साथ व्याभिचार करे, राजा उसका लिंग कटवा कर सर्वस्व हरण कर ले, किंतु अभिभावक से रक्षित स्त्री के साथ व्याभिचार करे तो सर्वस्व हरण के साथ प्राणदंड दे।

द्विज जातियों को अपनी जाति की कन्या से विवाह करना श्रेष्ठ है।

शूद्र पुरूष केवल शूद्र से, वैश्य पुरूष वैश्य एवं शूद्र से, क्षत्रिय पुरूष क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या से विवाह कर सकते हैं। किंतु ब्राह्मणों को चारों वर्णों की कन्याओं से विवाह करने का अधिकार है।

ब्राह्मण और क्षत्रिय सवर्ण स्त्री न मिलने पर भी शूद्र को पत्नी बनाने का किसी भी इतिहास में आदेश नहीं पाया जाता है। जो द्विज मोहवश शूद्र कन्या से विवाह करते हैं वे संतान सहित अपने वंश को शीघ्र शूद्र बना देते हैं।

ब्राह्मण शूद्र स्त्री के साथ सहवास करने से अधोगति (नरक) को प्राप्त करता है। और उससे पुत्र उत्पन्न कर ब्राह्मण–पद से भी रहित हो जाता है। विवाहित शूद्र पत्नी के हाथ का बनाया हुआ हव्य देवता, पितर और अतिथि ग्रहण नहीं करते और शूद्र ऐसे आतिथ्य से स्वर्ग भी नहीं जा पाता। जो द्विज शूद्र स्त्री का अधरपान करता है और उसके श्वास से अपने प्राण वायु को दूषित कर उससे जो संतान उत्पन्न करता है उसकी मुक्ति का कोई उपाय नहीं है।"

दस

क) वशिष्ट धर्म सूत्र का कहना है :–

"द्वेष भाव, ईर्ष्या रखना, असत्य भाषण, ब्राह्मण–निंदा, चुगलखोरी और निर्दयता शूद्र के लक्षण हैं।"

ख) विष्णु स्मृति का कथन है :–

"ब्राह्मण का नाम मंगलकारी, क्षत्रिय का बलशाली, वैश्य का धन संपन्न शाली और शूद्र का घृणा सूचक रखा जाए।"

ग) गौतम धर्म सूत्र कहता है :–

"शूद्र चौथे वर्ण का है और उसका एक ही जन्म होता है। उसका धर्म तीनों उच्चवर्णों की सेवा करना है। उनकी सेवा द्वारा जीविकोपार्जन करता है। वह उनके उतारे हुए जुते पहने और जूठन खाए। किसी द्विज को अपमानजनक गाली देने व मुक्का मारने पर शूद्र का वह अंग काट दिया जाए। बैठने, सोने, वार्तालाप करने या सड़क पर चलने पर द्विज की बराबरी करे तो दंड दिया जाए।

घ) मनुस्मृति भी उसका अनुसरण करती है :–

"किंतु यदि जो ब्राह्मण लोभ या प्रभुत्व से उपनयनधारी द्विजातियों से उनकी इच्छा के विरूद्ध दास का काम ले तो

उसे राजा छः सौ पण दंड दे। शूद्र ब्राह्मण द्वारा खरीदा हुआ हो या न हो, उससे नौकर का काम ले, क्योंकि ब्रह्मा ने उसे ब्राह्मण की सेवा के लिए ही बनाया है। स्वामी के द्वारा स्वतंत्र किए जाने पर भी शूद्र दास वृत्ति से छुटकारा नहीं पा सकता क्योंकि वह दासता उसकी नियति है उसे कोई नहीं मिटा सकता।"

"केवल ब्राह्मणों की और यशस्वी गृहस्थों की सेवा करना ही शूद्र को स्वर्ग देने वाला परमधर्म है। यत्न और वाणी से पवित्र रहने वाला श्रेष्ठ जातियों की सेवा करने वाला, मधुर भाषा, अहंकार रहित, उनके आश्रित रहने वाला शूद्र अपने में उत्कृष्ट जाति (दूसरे जन्म में) को प्राप्त करता है।"

ब्राह्मण की सेवा से शूद्र का जीवन निर्वाह न होता हो तो क्षत्रिय की सेवा करे और इससे भी निर्वाह न होता हो तो वैश्य की सेवा करें। वह स्वर्ग की प्राप्ति हेतु या दोनों (स्वार्थ और परमार्थ) हेतु ब्राह्मणों की सेवा करे।

ब्राह्मण की सेवा करना शूद्र की प्रसिद्धि के लिए कृतकृत्यता है। ब्राह्मण की सेवा करना शूद्र का विशिष्ट कर्म कहा गया है। इस कार्य से भिन्न वह जो भी कार्य करता है उसके लिए निष्फल होता है।

उस शूद्र की सेवारत शक्ति, कार्य कुशलता, और भृत्यों का परिग्रह (परिवार के पोषण का व्यय) देखकर ब्राह्मण अपने परिवार से यथार्थ प्रयत्न करें। उस शूद्र को जूठा अन्न, पुराना वस्त्र हीन धान्य, जीर्ण ओढ़ना और बिछौना देना चाहिए।

ब्राह्मण का मंगल सूचक, क्षत्रिय का बल सूचक, वैश्य का धन सूचक तथा शूद्र का निंदा सूचक नाम रखना चाहिए।

शर्मान्त ब्राह्मण का, क्षत्रियों का सभा से युक्त, वैश्य का पुष्टि से युक्त और शूद्र का दास से युक्त नाम रखना चाहिए?

शूद्र यदि द्विज को कटुवचन कहे तो उसकी जबान छेद देनी चाहिए क्योंकि उसकी उत्पत्ति पापमय स्थान से है।

शूद्र यदि द्रोहवश द्विजातियों का नाम और जाति का नाम लेकर बुरी बात कहे तो दस अंगुल की जलती हुई लोहे की सलाख उसके मुंह में डाल देनी चाहिए। यदि वह अहंकारवश किसी ब्राह्मण को धर्म का उपदेश करे तो राजा उसके मुंह और कान में खौलता हुआ तेल डलवा दे।

अंत्यज अपने जिस अंग से द्विज पर आघात करे उसका वही अंग काटना चाहिए। यह मनु का आदेश है।

यदि वह द्विज को मारने के लिए हाथ या लाठी उठाए हो तो उसका हाथ और क्रोध से ब्राह्मण को लात मारे तो उसका पैर कटवा देना चाहिए।

जो नीच वर्ण वाला ब्राह्मण आदि के साथ आसन पर बैठने का साहस करे तो राजा उसकी कमर को दाग कर उसे देश से निकाले अथवा उसके नितम्ब का मांस कतरवा दे। राजा ब्राह्मण के ऊपर अहंकार वश थूकने वाले शूद्र के दोनों होंठ, पेशाब करने वाले का लिंग और अपान वायु छोड़ने वाले का मल द्वार (गुदा) कटवा दे। जो शूद्र अविचार से ब्राह्मण का केश, पैर, दाढ़ी, गर्दन या अंडकोश पकड़े तो बिना विचार किए राजा उसके दोनों हाथ कटवा दे।

जो अपने ही स्वजाति वाले की चमड़ी काटे, लहू निकाल दे तो उसे एक सौ पण दंड दें। मांस काटने वाले को 6 निष्क दंड दे और हड्डी तोड़ने वालो को देश से निकाल दे।

ङ) नारद स्मृति कहती है :-

शूद्र जिस द्विज पर मिथ्यारोप लगाता है तो राजा के अधिकारी उसकी जबान को टुकड़े-टुकड़े काट कर उसे फांसी पर लटका दे।

एक जन्म वाला व्यक्ति अर्थात शूद्र यदि द्विज का द्वेष वश अपमान करे तो नीच जाति में जन्म लेने के कारण उसकी जबान काट दी जाए। किसी व्यक्ति का नाम घृणा से ले तो दस अंगुल की सलाख गरम कर उसकी जीभ में छेद दी जाए।

यदि किसी ब्राह्मण को यह धृष्टतापूर्वक धर्मोपदेश दे तो राजा उसके मुंह और कान में गर्म तेल डलवा दे। शूद्र का जो अंग ब्राह्मण को दुख देता हो तो वह अंग काट दिया जाए। नीच जाति का पुरूष यदि अपने से ऊंची जाति के समकक्ष आसन ग्रहण करे तो उसकी कमर दाग कर निष्कासित कर दे, या (राजा) उसके नितंब को गहराई से कटवा दे। जो उदंडतापूर्वक अपने से ऊंची जाति वाले के ऊपर वह थूक दे तो राजा उसके दोनों होंठ व पेशाब कर दे तो लिंग, अपान वायु छोड़ दे तो चूतड़ कटवा दे।

III

शूद्र के विरूद्ध ब्राह्मणों ने जो विधान बनाए उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :-

1. शूद्रों को सामाजिक वर्ण व्यवस्था में अंतिम स्थान पर रखा गया।
2. शूद्र अपवित्र है अतः कोई पवित्र कर्म ऐसे स्थान पर नहीं किया जाए जहां वह उस अनुष्ठान को देख सके या सुन सके।
3. अन्य वर्णों की भांति शूद्र का सम्मान न किया जाए।
4. शूद्र का जीवन व्यर्थ है। उसका वध कोई बिना दंड दिए कर सकता है और यदि कुछ देना भी पड़े तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की अपेक्षा बहुत कम।
5. शूद्र को ज्ञान प्राप्त नहीं करना चाहिए। यह पाप है और उसको ज्ञान देना दंडनीय अपराध है।
6. शूद्र को कोई संपत्ति नहीं रखनी चाहिए। ब्राह्मण जब चाहे उसकी संपत्ति को छीन सकता है।
7. राज्य में शूद्र को कोई पद नहीं दिया जा सकता।
8. शूद्र का धर्म अपने से ऊंचे वर्णों की सेवा करना है।
9. उच्च वर्ण वाला शूद्र से वैवाहिक संबंध स्थापित नहीं कर सकता। वे शूद्र स्त्रियों को सहवास हेतु रख सकते हैं, किंतु यदि शूद्र उच्च वर्ण की किसी स्त्री का स्पर्श भी कर दे तो उसे कठोर दंड दिया जाए।
10. शूद्र जन्म से दास है उसे सर्वदा दास बना कर रखा जाए।

उपरोक्त संक्षिप्त वर्णन से दो तथ्य प्रकट होते हैं। ब्राह्मणवादी विधान निर्माताओं ने स्वरचित विधानों का शिकार केवल शूद्र को ही बनाया है। यह जान कर और अधिक आश्चर्य होगा कि भारत-आर्य समुदाय में प्राचीन ब्राह्मणवादी साहित्य के अनुसार वैश्य अधिक दलित था न कि शूद्र। ऐतरेय ब्राह्मण में इस संबंध में विवरण प्राप्त होता है। इसमें राजा विश्वमित्र तथा श्यापर्ण ब्राह्मण की कथा है जिसमें कहा गया है कि पवित्र सोमरस पाने के सभी वर्ण अधिकारी है। वैश्यों के विषय में इसमें कहा गया है।

"अब यदि (पुरोहित) दही लाता है तो वैश्य का एक घूंट (शराब का एक घूंट) है, उससे वैश्य को संतुष्ट करो। वैश्य की भांति आपकी श्रेणी में एक पैदा होगा, जो दूसरों को कर देते हैं अथवा जो दूसरों द्वारा प्रयोग किया (खाया) जाता है और जिसे जब चाहे सताया जा सकता है।"

प्रश्न यह है कि वैश्य को क्यों छोड़ दिया गया और सारी मार शूद्रों के ऊपर ही क्यों पड़ी?

ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्राप्त होने से शूद्र के निकटतम वैश्य वर्ण भी प्रभावित हुए। शूद्र तीनों वर्णों के नीचे हैं और उन्हें बहिष्कृत किया हुआ है। ऊपरी तौर पर देखने से ऐसा लगता है कि तीनो वर्णों को शूद्रों का शोषण करने का अधिकार है। लेकिन तथ्य क्या है? वास्तविकता यह है कि क्षत्रिय और वैश्य शूद्र के विरूद्ध आवाज उठाने के भी अधिकारी नहीं हैं। तीनों वर्णों की अपेक्षा ब्राह्मण को विशेषाधिकार प्राप्त हैं। उदाहरणार्थ शूद्र यदि कोई अपराध करता है तो ब्राह्मण को क्षत्रिय और वैश्य की अपेक्षा शूद्र को अधिक दंड दिलाने का अधिकार है। ब्राह्मण अपनी आवश्यकतानुसार बिना किसी अपराध बोध के शूद्र की संपत्ति का हरण कर सकता है। शूद्र को संपत्ति नहीं रखनी चाहिए क्योंकि इससे ब्राह्मण को दुख होता है। ब्राह्मण को शूद्र राजा के राज्य में नहीं रहना चाहिए। यह क्यों हैं? क्या कारण है कि ब्राह्मण शूद्र से विद्वेषपूर्ण व्यवहार करते हैं?

इसके अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार आवश्यक है। क्या सामान्य ब्राह्मण शूद्रों के निषेध के बारे में सोचता है? उनके विचार असाधारण और प्राकृतिक रूप से निंदनीय है, यह सभी स्वीकार करेंगे। क्या ब्राह्मण भी इसे स्वीकार करेंगे? यदि प्रतिबंधों की सूची उनके ऊपर कोई प्रभाव न डाले तो यह अस्वाभाविक नहीं। प्रथम बात यह है कि चिरंतन प्रकृति और मानसिकता ने उन्हें इतना कुंठित कर दिया है कि शूद्रों पर लागू निषेधों के कारण और निवारण के संबंध में ब्राह्मणों ने विचार करने की जरूरत नहीं समझी। दूसरी बात यह है कि उनमें से जो कुछ विचारवान है, वे भी यह कह कर इस बात को टाल देते हैं कि अन्य देशों में भी इसी प्रकार के प्रतिबंध विद्यमान हैं। अतः यह कोई असामान्य या लज्जाजनक स्थिति नहीं है। दूसरे प्रकार के इन विचारों की विवेचना आवश्यक है।

दूसरा मत सरल और ग्राहय है और प्रतिष्ठा देने और रूढ़ीगत आस्थाओं को सुधारने में सहायक है, फिर भी किसी बात को वैसे ही छोड़ना ठीक नहीं है। यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि ये प्रतिबंध विश्व भर में अद्वितीय है। ब्राह्मणवादी विधान की विश्व के किसी विधान से बराबरी करना असंभव है। इसकी रोमन विधान से ही तुलना करें।

IV

यह बेहतर रहेगा कि हम रोमन साम्राज्य की व्यवस्था और वहां के शोषित समाज के साथ यहां की सामाजिक व्यवस्था की तुलना करें। रोम के विधान में समाज की पांच श्रेणियां थी। (1) कुलीन और साधारण (2) स्वतंत्र (फ्रीमेन) और दास (3) नागरिक और विदेशी (4) स्वाधीन और पराधीन (5) ईसाई और विधर्मी (पेगन)

रोम के विधान के अनुसार (1) कुलीन (2) स्वतंत्र (फ्रीमेन) (3) नागरिक (4) स्वाधीन और (5) ईसाई संपन्न वर्ग थे। इसके अतिरिक्त शोषित वर्ग में (1) साधारण (2) दास (3) विदेशी (4) पराधीन और (5) अधर्मी थे।

रोमन के अनुसार स्वाधीन लोगों को नागरिक अधिकार के साथ ही राजनैतिक अधिकार भी प्राप्त थे। नागरिक अधिकारों में वैधानिक वैवाहिक (कानुबियम) और संपन्न वाणिज्यिक (कौमरसियम) नामक अधिकार थे। इनमें प्रथम के अनुसार वैधानिक रूप से विवाह संपन्न कर नागरिक अधिकार प्राप्त कर सकता था। यह विशेष पैतृक अधिकार था जिसके अनुसार बिना वसीयत के पैतृक संपत्ति पर भी अधिकार हो जाता है। इसलिए इसकी अत्यंत आवश्यकता होती थी। विशिष्ट रोमन विधान के अनुसार संपदा अथवा कोमर्सियम के अनुसार किसी भी संपत्ति के क्रय-विक्रय का अधिकार प्राप्त होता था। राजनैतिक अधिकार के अनुसार जन प्रतिनिधि चुनने के लिए वोट देने और किसी पद पर नियुक्ति प्राप्त करने का अधिकार मिलता था जिन्हें रोमन साम्राज्य में "जुस सफ्रागी" तथा "जुस ऑनोरम" कहा जाता था। स्वतंत्र (फ्रीमेन) और दास में इतना ही अंतर था कि दासों को कोई नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। उनके अधिकार उनके स्वामी की इच्छा पर निर्भर थे।

विदेशियों का जो "परेग्राइन" कहे जाते थे, किसी प्रकार का नागरिक या राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं था और जब तक किसी नागरिक का संरक्षण मिलता तब तक उन्हें सुरक्षा का भी अधिकार नहीं था।

स्वाधीन और पराधीन में अंतर यह था कि प्रथम को अधिकार के लिए अन्य किसी व्यक्ति पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था जबकि दूसरे इस संबंध में पराया मुंह ताकते थे। (1) "पोटेस्टास" (2) मानुस, (3) मेंसीपियम यद्यपि सब का प्रभाव एक-सा था, पोटेस्टास में रोमन विधान के अनुसार दो वर्ग हो गए। पोटेस्टास के अंतर्गत (1) दास (2) बच्चे (3) पलि मानुस (4) अदालत द्वारा ऋणदाता को ऋण लेने वाला निश्चित करना (5) किराए पर लिए गए तलवारबाज आते थे। पोटेस्टास पराधीन सा रहता था। उसे अपने स्वयं अधिकारों का उपयोग न कर दूसरे का संरक्षण लेना होता था।

पराधीन को पोटेस्टास के कारण निम्न निषेधों का शिकार होना पड़ता था। और (1) वे स्वाधीन नहीं थे, (2) वे संपत्ति प्राप्त नहीं कर सकते थे (3) वे आघात या चोट पहुंचाए जाने पर स्वयं विरोध नहीं कर सकते थे।

ईसाई धर्म के प्रसार के साथ ही पैमानों पर निषेधाज्ञाएं लागू की गई। प्रारंभ में जब रोम के सभी निवासी एक प्रकार की आराधना करते थे तब उनके नागरिक अधिकारों में धर्म का दखल नहीं था। ईसाई सम्राटों के राज्य में नास्तिक, धर्मान्तरित तथा विधर्मी (मूर्तिपूजक) और यहूदी सभी भिन्न-भिन्न प्रकार से निषिद्ध हुए, विशेष रूप से संपत्ति के अधिग्रहण तथा न्यायालय में साक्ष्य के मामले में। केवल चार सदस्यीय परिषद द्वारा मान्य रूढ़िवादी ईसाई ही नागरिक अधिकारों का उपयोग कर सकते थे।

रोमन विधान में प्रतिबंधों का विवरण जान बूझ कर हिंदू नाक ऊंची करके दिखा सकते हैं कि केवल ब्राह्मणवादी विधान में ही कुछ निश्चित वर्गों पर प्रतिबंध लागू नहीं है, बल्कि रोमन विधान में ब्राह्मणवादी विधान के बराबर क्रूरता बिल्कुल नहीं थी। रोमन और ब्राह्मणवादी विधानों की तुलना करने पर और निषेधों की व्याख्या करने पर ब्राह्मणवादी विधान के आधार पर कलई खुल जाती है।

रोमन विधान में निषेध और अधिकार का आधार क्या था? रोमन विधान का साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि रोमन विधानों के आधार "कापूत" और "एक्जिस्टीमाशियों" थे।

"कापूत" का अर्थ है व्यक्ति की नागरिक हैसियत। इस स्थिति में मुख्यतः तीन बातें आती थीं।-(1) स्वाधीनता, (2) नागरिकता और (3) परिवार। स्वाधीनता अधिकार प्राप्त स्वतंत्र व्यक्ति कहे जाते थे। यह अधिकार दासों को नहीं मिलते थे। यदि स्वतंत्र व्यक्ति रोम का नागरिक होता था तो उसे नागरिक अधिकार भी खुद बखुद प्राप्त हो जाते थें उसे केवल राजनैतिक अधिकार ही नहीं मिल जाते थे बल्कि उसे नागरिक विभाग का भी अधिकार हो जाता था। अंततः उसे पारिवारिक विधानों के अंतर्गत सभी सुविधाएं प्राप्त हो जाती थीं।

जब भी कभी विद्यमान हैसियत समाप्त या संशोधित हो जाती थी तब व्यक्ति "कैपिटिस डिमिन्युशिओ" की स्थिति में आ जाता था जिसका अभिप्राय है उसकी पूर्व मान्य स्थिति पूर्ण रूप में समाप्त हो जाती थी या कुछ कम हो जाती थी। इस स्थिति में तीन प्रकार के परिवर्तन होते थे जिन्हें सर्वाधिक मध्यम और न्यूनतम कहते थे। सर्वाधिक में

स्वाधीनता, नागरिकता और दाम्पत्य के अधिकार समाप्त हो जाते थे। ऐसा उस स्थिति में होता था जब रोम का नागरिक युद्धबंदी हो जाता था या आपराधिक मामले में दास बना दिया जाता था, किंतु शत्रु से मुक्त होकर आने पर उसे समस्त नागरिक अधिकार फिर प्राप्त हो जाते थे।

स्थिति में परिवर्तन की दूसरी रीति व्यक्तिगत आजादी के अधिग्रहण के अतिरिक्त नागरिक और पारिवारिक अधिकारों की समाप्ति थी। पर ऐसा तब किया जाता था जब कोई नागरिक किसी अन्य प्रांत की नागरिकता प्राप्त कर लेता था। ऐसी स्थिति में उसे अग्नि और जल के प्रयोग से रोक दिया जाता था, ताकि वह रोमन साम्राज्य के क्षेत्र से बाहर निकल जाए अथवा साम्राज्य के ही किसी अन्य प्रांत में चले जाने की सजा दे दी जाती थी।

जब कोई व्यक्ति अपनी स्वाधीनता और नागरिकता से वंचित हुए बिना किसी परिवार विशेष का सदस्य नहीं रह जाता था, उसे कम से कम प्रांत छोड़ने के लिए कह दिया जाता था, उदाहरणार्थ जब एक स्वतंत्र नागरिक जबरदस्ती किसी अन्य के अधिकार में पहुंच जाता था या किसी का गुलाम बने बालक की उसकी दास्ता से उसका पिता उसे वैधानिक रूप से मुक्त करा लेता था।

नागरिकता मूल रूप से जन्म से प्राप्त होती थी। वैधानिक रूप से विवाह के बाद उत्पन्न संतान पिता की स्थिति पर पहुंच कर नागरिक बन जाती थी, बशर्ते कि पिता भी पुत्रोत्पत्ति के समय वैधानिक रहा हो। यदि नागरिकता प्राप्त न हो तो संतति को माता की स्थिति मिलती थी। ऐसी परिस्थिति में उत्पन्न होने पर दास भी नागरिकता प्राप्त कर लेता था। यह नियम "इलियासेन्टिया" और "जूनिया नोरबाना" विद्धानों द्वारा संशोधित कि गए। इसके अनुसार कुछ निश्चित मामलों में मुक्त व्यक्ति केवल विदेशी का दर्जा पा सकता था। अन्य संशोधनों के लागू होने पर प्रत्येक दास लगातार मताधिकार और नागरिकता पाता रहा। नागरिकता के अधिकार संपूर्ण जाति या किसी व्यक्ति विशेष को जनता या संसद द्वारा वार्षिक समारोह के अवसर पर या सम्राट द्वारा राजतिलक के अवसर पर आयोजित समारोह में दिए जाते थे। यह सब वैसा ही था जिसे आजकल स्वाभाविकरण कहते हैं।

रोमन विधान में किसी व्यक्ति की स्थिति ऐसी हो सकती थी और नहीं भी, जिसका अभिप्राय होता था कि नागरिकता के अधिकार के साथ ही राजनैतिक अधिकार अर्थात मताधिकार और प्रशासनिक पद प्राप्ति का अधिकार, राजनैतिक अधिकार कानून की दृष्टि में सम्मानित होने पर निर्भर करता था। रोमन नागरिक का पूत या एक्जिास्टमैशियो दोनों प्रकार के हो सकते थे। दूसरी ओर रोम का निवासी नागरिकता के अधिकारों से वंचित होते ही राजनैतिक अधिकारों से वंचित हो सकता था। राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए कानून की दृष्टि में सम्मानित व्यक्ति होना आवश्यक होता था। केवल नागरिकता प्राप्त व्यक्ति राजनैतिक अधिकार नहीं प्राप्त कर सकता था।

दो स्थितियों में राजनैतिक अधिकार समाप्त हो सकते थे। स्वाधीनता खत्म होने पर या अपराधी सिद्ध होने के बाद दंड भुगतने पर। स्वाधीनता की समाप्ति पर राजनैतिक अधिकार पूर्णतः समाप्त हो जाते थे। अपराध की गंभीरता के अनुसार राजनैतिक अधिकार में अंतर पड़ता था। जब अपराध गंभीर होता था तब राजनैतिक अधिकार की समाप्ति को "इनफैतिया" कहते थे। साधारण अपराध "टुरापटुडो" कहा जाता था। गंभीर अपराध पर राजनैतिक अधिकार छीन लिए जाते थे। रोमन विधान में प्रतिवादी को गंभीर अपराधी की श्रेणी में रखा जाता था। चोरी, डकैती, फरेब आदि को गंभीर अपराध माना जाता था। इन अपराधों के मुख्य अभियुक्त के साथी को भी समान दंड दिया जाता था। जनता के बीच मंच पर आकर अभिनय करना या तलवारबाजी के करतब दिखाना, कलंकित होने के कारण सेना से निकाल दिया जाना, वेश्यावृत्ति करना तथा अन्य निम्नस्तर के कार्य जिससे समाज में निंदा हो आदि, गंभीर अपराध समझे जाते थे।

इनफैमिया का परिणाम राजनैतिक अधिकारों की समाप्ति, चुनाव में वोट देने के अधिकार पर प्रतिबंध तथा प्रशासनिक पद से निष्कासन की व्यवस्था होती थी।

रोम के संविधान में अधिकारों और निषेधों का सूक्ष्म विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि ये सबके लिए समान थे। इनमें जातिगत–भेदभाव, अधिकार और निषेध रोम के संविधान में सामान्य रूप से संचालित किए जाते थे। नागरिक और राजनैतिक अधिकारों का उपयोग कोई भी कर सकता था और इन अधिकारों की समाप्ति पर सभी को एक समान प्रतिबंध भुगतने पड़ते थे। ब्राह्मणवादी विधान का चरित्र कैसा है?

यह निर्विवाद है कि अधिकार और निषेध समान रूप से सबसे ऊपर लागू नहीं किए जाते थे। सब का आधार वर्ण था। ब्राह्मणवादी विधान का सैद्धांतिक आधार समस्त अधिकार प्रथम तीन वर्णों को और समस्त निषेध शूद्रों के लिए थे। ब्राह्मणवादी विधान के शीर्षस्त समर्थक कह सकते हैं कि रोमन विधान भी हमारे विधान की भांति वर्ग पर आधारित था। इस पर विचार किया जा सकता है जहां तक कुलीन और सामान्य जन का संबंध है अधिकारों और निषेधों का वर्ग विभाजन था। इस संबंध में निम्न विवरण विचारणीय है। :–

सर्वप्रथम यह उल्लेखनीय है कि जन सामान्य निम्न वर्ग के माने जाते थे। किंतु वे दास नहीं थे, स्वाधीन थे और उन्हे "जूस कामर्सी" के अधिकार प्राप्त थे जिसके अनुसार वे अपनी संपत्ति का क्रय विक्रय कर सकते थे। उनके ऊपर केवल राजनैतिक और सामाजिक अधिकारों की पाबंदी थी। दूसरी बात यह है कि उन पर लागू ये प्रतिबंध स्थाई नहीं थे। उन्हें दो प्रकार के सामाजिक प्रतिबंधों को झेलना पड़ता था। एक था उनमें और कुलीन वर्ग के मध्य अंतर्जातीय विवाह। यह प्रतिबंध बहुत पहले से था जिसे बारह जजों ने वैधानिक रूप दे दिया था। सन् 445 ई. पूर्व कैनलेनियन विधान के द्वारा प्रतिबंध समाप्त कर दोनों वर्गों के मध्य अंतर्जातीय वैवाहिक संबंधों को स्वीकृति मिल गई। निम्न वर्ग के सामान्य जन दूसरे निषेध के द्वारा रोम के मंदिरो में "पौन्टिफ" और "उगुरूष" नामक पद ग्रहण नहीं कर सकते थे। इस संबंध में 300 ई. पूर्व "ऑगुनियन" विधान के लागू होने पर यह प्रतिबंध भी समाप्त हो गया।

जहां तक असेम्बली के लिए वोट के अधिकार का संबंध है रोम के छठे सम्राट के काल में "सरवियस टूलियस" संविधान के लागू होने पर यह अधिकार भी उन्हें प्राप्त हो गये। राजनैतिक प्रतिबंधों के अनुसार वे प्रशासनिक या सार्वजनिक पद पर नियुक्त नहीं किए जा सकते थे। सन् 509 ई. पूर्व में गणराज्य की स्थापना के साथ ही यह निषेध भी नहीं रहा। इस संबंध में "प्लेबियस ट्रिब्यून" की नियुक्ति 494 ई. पूर्व हुई और औपचारिक रूप से 412 ई. पूर्व उनके लिए कोषाध्यक्ष पद मिलने लगा। वास्तविक रूप से 367 ई. पूर्व कानसुलशिप "मजिस्ट्रेट पद, 366 ई. पूर्व कुरूलेडिलेशि", 356 ई. पूर्व तानाशाही, 251 ई. पूर्व सेंसरशिप (आलोचक) और 336 ई. पूर्व प्रीएटरशिप (दंडाधिकारी), 351 ई० पूर्व में होटेसियन असेम्बली शुरू होते ही सामान्य जन की महत्वपूर्ण विजय हुई। इस विधान के लागू होते ही समस्त रोम के निवासियों पर लागू विधानों में एकरूपता आ गई और ऊंच नीच के भेदभाव लगभग समाप्त हो गए। इस प्रकार सामान्य और कुलीन वर्ग समान श्रेणी में आकर राजनैतिक अधिकारों का समान उपभोग करने लगे।

जन सामान्य को कुलीन के समान केवल सामाजिक स्थिति और राजनैतिक अधिकार में ही बराबरी प्राप्त नहीं हुई बल्कि कुलीनता की ओर जाने का अवसर भी मिल गया। रोमन समाज में जन्म और माग्य, व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और पद की प्राप्ति में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करते हैं। इसके अतिरिक्त मजिस्ट्रेट पद से भी समाज में प्रतिष्ठा बनती है। प्रत्येक नागरिक जन्म से चाहे वह जन सामान्य हो या कुलीन, किसी भी प्रकार से मजिस्ट्रेट की कुर्सी पर आसीन हो जाता था या इससे भी ऊंचे पद पर पहुंच सकता था तो वह व्यक्तिगत प्रतिष्ठा तथा सम्मान का अधिकारी बन जाता था। उत्तराधिकारियों के लिए भी यह सम्मानित स्थान बन सकता था और इस प्रकार यह एक उच्च कुलीन समुदाय कहा जाता था, उनसे श्रेणी विभाजन पैदा कर देता था। इस प्रकार जब जन सामान्य पर से निषेध उठा लिए गए तो वे भी उच्च कुलीन श्रेणी में उच्चतर स्थान पर उनके आगे पहुंच गए।

रोम विधान में अधिकार और अनाधिकार के मामले में सांप्रदायिक आधार पर अंतर था किंतु तथ्य यह है कि जन सामान्य पर लागू अनाधिकार स्थाई नहीं थे। इन निषेधों का अस्तित्व था, किंतु कुछ समय के पश्चात उन्हें हटा दिया गया। ब्राह्मणवादी विधान के समर्थक यह देख कर मुंह न खोलें कि उनके विधान की ही भांति रोमन विधान में भी समान रूप से ऊंच नीच का भाव था। उन्हें उत्तर देना होगा कि जिस प्रकार रोमन विधान से हीन और कुलीन के मध्य ऊंच–नीच के अंतर को समाप्त कर दिया। उसी प्रकार इन ब्राह्मणवादी विधान के संचालकों ने तीन वर्गों और शूद्रों के मध्य व्याप्त ऊंच नीच के अंतर को समान्त क्यों नही किया? इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि रोमन विधान के अधिकार और प्रतिबंध सांप्रदायिक नहीं थे जब कि ब्राह्मणवादी विधान में वे जातिवादी हैं।

रोमन विधान और ब्राह्मणवादी विधान में केवल यही अंतर नहीं है वरन् इसके अतिरिक्त दो भेद और भी हैं। एक है, आपराधिक मामलों में दंड विधान की समानता–रोमन विधान में नागरिक और राजनैतिक अधिकारों में समानता नहीं थी, किंतु आपराधिक मामलों संबंधी दंड विधान में

सेवा में,

नाम श्री.....

पता .....

.....

.....

नागरिकों के बीच भेद नहीं था। यहां तक कि प्लेबियन या पेट्रीशियन के मध्य भी समान अपराध के समान दंड था चाहे कोई भी अभियुक्त हो या वादी कोई भी हो, अपराध सिद्ध हो जाने पर समान दंड दिया जाता था। लेकिन धर्म सूत्र और स्मृतियां क्या कहती हैं? वे बिल्कुल विपरीत सिद्धांत प्रतिपादित करती हैं। एक ही प्रकार के अपराध में दंड विधान वादी और प्रतिवादी की जाति के अनुसार भिन्न हैं। यदि अभियोग लगाने वाला शूद्र है और अभियुक्त तीन उच्च वर्ग वालों में से है तो क्रमानुसार दंड कम होता है। इसके विपरीत अभियोग लगाने वाला तीन उच्च वर्णों में से कोई एक है तो क्रमानुसार दंड प्रावधान बहुत कठोर है। यह दूसरे प्रकार की बर्बरता है जो रोमन विधान और ब्राह्मणवादी विधान में भिन्नता प्रकट करती है।

ब्राह्मणवादी विधान से रोमन विधान की भिन्नता का एक और उल्लेखनीय तथ्य है।

इसका संबंध निषेध की प्रकृति से है। दो तथ्य विचारणीय हैं। प्रथम तो यह कि रोमन समाज में जब भी कोई परिस्थिति अस्तित्व में आई तो प्रतिबंध लगाए गए, निषेध व्यवस्था लागू की गई। जैसे ही परिस्थिति बदली वह व्यवस्था समाप्त की दी गई और स्थिति में समानता लाई गई। दूसरी उल्लेखनीय बात रोमन विधान में यह थी कि उसमें किसी की एक ही परिस्थिति अनन्त काल के लिए जारी रखने का प्रयास नहीं किया गया। इसमें निरंतर परिवर्तन होते रहे। दूसरी ओर रोमन विधान ने उन परिस्थितियों को भी परिवर्तित करने का प्रयास किया जिनके कारण निश्चित प्रतिबंध लागू रहा प्लेबियनों, दासों, विदेशियों और पैगानों (मूर्तिपूजकों) के उदाहरणों से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

यदि उपरोक्त रोमन विधान के अंतर्गत प्रतिबंधों के संबंध में दिए गए दोनों तथ्यों पर विचार किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि धर्म सूत्रों और स्मृतियों ने कितनी धूर्तता की है। यदि प्रतिबंध परिस्थिति के ऊपर निर्भर रहे होते और शूद्रों को उनसे मुक्त होने के लिए प्रयास करने की आजादी होती तो शूद्रों के ऊपर निषेधाज्ञाओं को लागू किया जाना उतना बर्बरतापूर्ण सिद्ध नहीं होता। ब्राह्मणवादी विधान के अनुसार प्रतिबंधों को लागू ही नहीं किया गया। बल्कि क्रूर विधान बना कर उन्हें अनन्त बना दिया गया और उनसे मुक्ति का प्रयास करना भी दंडनीय अपराध बना दिया गया। जिसके अनुसार कड़े से कड़े दंड देने का प्रावधान कर दिया गया।

इस प्रकार ब्राह्मणवादी विधान प्रतिबंधों को केवल लागू ही नहीं करता, वरन् उनको स्थायित्व भी प्रदान करता है। एक उदाहरण है।

शूद्र वैदिक यज्ञ नहीं करा सकता, क्योंकि वह वैदक मंत्रों के उच्चारण का पात्र नहीं है। इस निधेष का कोई उल्लघन नहीं कर सकता। धर्म–सूत्र यहीं नहीं रूकते, वे आगे बढ़ कर आदेश देते हैं कि शूद्र का वेद पढ़ना या सुनना अपराध है। यदि यह ऐसा करता है तो उसकी जबान काट दी जाए और पिघला हुआ सीसा उसके कानों में उड़ेल दिया जाए। किस व्यक्ति को धार्मिक अनुष्ठानों से वंचित रखने के लिए क्या इससे भी बढ़ कर कोई पाशविक उदाहरण है?

इन प्रतिबंधों के संबंध में स्पष्टीकरण क्या है? शूद्रों के प्रति ब्राह्मणवादी विधान के निर्माताओं ने इतना कठोर व्यवहार क्यों किया? उनकी स्मृतियां केवल अनाधिकारों का वर्णन करती हैं। इनमें लिखा है कि शूद्र उपनयन का अधिकारी नहीं है। यह संपत्ति रखने का अधिकारी नहीं है किंतु यह नहीं बताती कि क्यों? समस्त बातें तर्कहीन है। शूद्रों का निषेध उनके व्यक्तिगत चरित्र के कारण नहीं है। यह किसी प्रकार की घृणा का परिणाम भी नहीं है। शूद्र को दंडित इसलिए किया जाए क्योंकि वह शूद्र है। यह एक गुत्थी है जिसका सुलझना आवश्यक है। ब्राह्मणवादी ग्रंथ समस्या का निराकरण नहीं करते । अतः इसके स्पष्टीकरण के लिए हमें और खोज करनी होगी।

साभार –
बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर
सम्पूर्ण वाङ्मय खंड–13
पृष्ठ सं. 23 से 42
डॉ. बी. आर. अम्बेडकर